शीराज़ा

(हिन्दी)

जे.एंड.के. अकादमी ऑफ आर्ट, कल्चर एंड लैंग्वेजिज़, जम्मू

स्वतंत्रता स्वर्ण जयन्ती विशेषांक

द्विमासिक

हिन्दी

वर्ष : 33 अंक : 2-4 जून-नवंबर 1997

प्रमुख सम्पादक
बलवंत ठाकुर

सम्पादक
डॉ० उषा व्यास

संपर्क : सम्पादक, शीराज़ा हिन्दी, जे० एंड के० अकादमी ऑफ आर्ट कल्चर
एंड लैंग्वेजिज जम्मू ।
फ़ोन : 579576 ; 577643

मूल्य : 2 रुपये वार्षिक : 10 रुपये
यह अंक 6 रुपये

प्रकाशक : बलवंत ठाकुर, सेक्रेटरी, अकादमी ऑफ आर्ट कल्चर
एंड लैंग्वेजिज़ जम्मू 180001

मुद्रक : मैसर्ज़ रोहिणी प्रिंटर्ज, कोट किशन चन्द जालन्धर—144004

आलेख—

रचनाओं में व्यक्त विचार लेखकों के अपने हैं
इनमें सम्पादकीय सहमति अनिवार्य नहीं ।

आमुख—

आज स्वतन्त्रता की स्वर्ण जयन्ती मना रहा समूचा भारत एक उल्लास, एक उत्साह विशेष से परिपूरित है। स्वतन्त्रता हमारी प्रगति समृद्धि एवं विश्वबंधुत्व में सांझेदारी का जीवंत साक्ष्य है। जो राष्ट्र स्वतन्त्रता का महत्व नहीं जानते वे अजाने कहीं संकटापन्न हो जाने के संदेह से घिरे रहते हैं।

औपनिवेशक शक्तियों के जंजाल से मुक्ति पाने के उपरांत हमारी उपलब्धियां और अनुपलब्धियां क्या रहीं ? इसका आकलन इसलिये अनिवार्य है ताकि हम अपने सुनहरे कल की राहें सहज, सरल और समतल बनाने में समर्थ हो सकें। देश के बहुमुखी विकास के रहते साहित्य, संस्कृति एवं कला के क्षेत्र में भी नये क्षितिज उद्घाटित हुये हैं।

उर्दू, हिन्दी, कश्मीरी, गोजरी, पहाड़ी, पंजाबी और लद्दाखी जैसी, राज्य में बोली जाने वाली भाषाओं के विकास में राज्य की कला-संस्कृति एवं भाषा अकादमी ने जो उल्लेखनीय प्रयास किये हैं वे सर्वविदित हैं।

जहां अकादमी भारत की स्वतन्त्रता की स्वर्ण जयन्ती वर्ष के उपलक्ष्य में नाटक, संगीत, नृत्य, चित्रकला एवं साहित्य के रंगारंग कार्यक्रमों का आयोजन कर रही है वहां, अपने प्रकाशनों से जुड़े भिन्न-भिन्न भाषाओं के शीराज़ा-विशेषांक भी प्रकाशित कर रही है। जिनमें जहां स्वतन्त्रता की बलिवेदी पर सर्वस्व न्योछावर करने वाले वीरों का यशोगान है वहां राज्य की उपलब्धियों का लेखा-जोखा भी है।

आशा है आपको यह विशेषांक पसंद आयेगा और हमारा प्रयास सार्थक सिद्ध होगा।

—बलवंत ठाकुर

आलेख

आज़ादी का बसन्ती चोला और सरदार भगत सिंह

□डा० कीर्ति केसर

'मेरा रंग दे बसंती चोला' का मुक्ति राग अलापने वाला सरदार भगतसिंह जब एक ज्वलंत नक्षत्र की तरह भारतीय इतिहास के आकाश पर उदय हुआ तब घटना चक्र बड़ी तीव्रता से चल रहा था। 1905 ई० में लार्ड कर्ज़न ने बंगाल का विभाजन कर दिया। इस घटना ने न केवल बंगाल को हिला दिया बल्कि पूरे देश को घोर अपमान की भट्ठी में झोंक दिया। कांग्रेस जो आज तक "अर्जीदहिन्दों' की जमात कहलाती थी उसका नेतृत्व बालगंगाधर तिलक अरविंद घोष, विपिन चन्द्र पाल तथा लाला लाजपतराय के हाथों में आ गया। इसमें पार्टी की नीतियों में क्रांतिकारी परिवर्तन आया। स्वतंत्रता मेरा जन्म सिद्ध अधिकार, स्वदेशी का प्रचार, विदेशी का वहिष्कार और असहयोग जैसा गर्म रवैया आमतौर पर प्रकट होने लगा। ऐसे ही तपते माहौल में 25 सितम्बर 1907 में गांव बंगा जिला लायलपुर में भगत सिंह का जन्म हुआ। मातृभूमि के लिए स्वतंत्रता की तड़प उन्हें अपने पिता किशन सिंह और चाचा अजीत सिंह से विरासत में मिली थी। 1917 ई० में कांग्रेस का नेतृत्व महात्मा गांधी के हाथों में आया। इसी वर्ष रौलेट कमेटी भारत आई और 1919 में रौलेट एक्ट लागू हो गया। उस दमनकारी कानून के खिलाफ देश व्यापी असहयोग आंदोलन की कमान गांधी जी ने संभाली। पंजाब में इस आंदोलन का नेतृत्व लाला लाजपतराए कर रहे थे। 12 वर्ष की आयु में भगतसिंह ने इस आंदोलन में भाग लेकर सक्रिय राजनीति में प्रवेश किया।

भगतसिंह ने 1916 ई० में डी०ए०वी० कालेज लायलपुर में प्रवेश लिया। यहीं पर उनकी मुलाकात सरदार करतार सिंह सराभा से हुई। इस दौर की दो ऐतिहासिक दुर्घटनाओं से उनके मानस पर गहरा प्रभाव पड़ा। पहली 13 अप्रैल 1919ई० की वैसाखी के दिन हुआ जलियांवाले बाग का रक्तपात जहां समय के हाकिमों ने निहत्थें नागरिकों को ठंडा कर दिया।

कोई चेतावनी दिए बिना कोई सूचना दिए बिना अंधाधुंध गोलियां बरसाईं। लगभग एक हज़ार लोगों में से किसी को जान बचाने का मौका नहीं मिला ! यह ब्रिटिश हकूमत की बर्बरता का चरम था। कहते हैं भगतसिंह इस घटना के अवशेष देखने लाहौर से आए थे।

दूसरी घटना 19 फरवरी 1921 में ननकाना साहिब में घटित हुई। विदेशी शासकों की मदद से महंत नारायणदास ने एक जलसे के लिए एकत्र हुए सिक्खों को दहकती भट्ठियों में झोंक दिया और जत्थेदार लक्ष्मण सिंह को सूखे पेड़ के साथ बांध कर जिंदा जला डाला। भगतसिंह पहले ही बेचैन थे। इस प्रकार नृशंस बर्बर अत्याचारों ने उन्हें दृढ़ संकल्पों और निडरता का वरदान दिया। 1922 में उन्होंने नैशनल कॉलिज लाहौर में दाखिला लिया यहां उन्होंने वैज्ञानिक नज़रिए से इतिहास, राजनीति, अर्थव्यवस्था और कानून का अध्ययन किया। 1917 ई० की रूसी क्रांति उनके लिए आधारभूत नज़रिया बन गई। नये विचारों को अपनाने, देश की हालत, हालात की परख और पहचान करने के तरीके और सलीके भी उन्होंने यहीं सीखे। यहां उनकी भेंट भगवतीचरण वोहरा से हुई। औपचारिक भेंट धीरे-धीरे आत्मीयता में बदल गई। दुर्गा भाभी का दुलारा बन गया भगतसिंह। देश की आजादी उनकी ज़िन्दगी का पहला और आखिरी मकसद बन गई और यहीं से इंकलाबी कार्यवाहियों का बाकायदा सिलसिला शुरू हो गया जो अंतिम जेल यात्रा तक चलता रहा।

उल्लेखनीय है कि भगतसिंह के पास केवल जोश नहीं था उनके पास जीवन मूल्य थे, एक पूरी विचारधारा थी। वे स्वप्नदर्शी मात्र नहीं थे संकल्प जीवी, संघर्षजीवी थे। जब हाथ में 'बंदूक नहीं, तलवार नहीं थी तो कलम चलती थी। सोहब सिंह जोश की पत्रिका 'किरती' में वे लगातार लिखते रहे—अत्याचारों, दमन और शोषण के खिलाफ—परतंत्रता के विरुद्ध और स्वराज के लिए। 27 फरवरी 1926 ई० जब सारा देश रंगों-उमंगों का त्यौहार होली बना रहा था तब अकाली आंदोलन के सिलसिले में गिरफ्तार छः अकालियों—किशन सिंह गड़गज, संता सिंह, दलीप सिंह, नंद सिंह, करम सिंह और धरमसिंह को फांसी दे दी गई और चुपचाप बिना किसी को किसी सूचना के उनके शवों को आग दे दी गयी। भगत सिंह ने इसका सख्त नोटिस लिया और इन शहीदों को भावभीनी श्रद्धांजलि भेंट करते हुए "होली दे दिन खून दे छिट्टे' शीर्षक से एक लेख लिखा जो 15 मार्च 1926 ई० 'दैनिक प्रताप' में छपा। 1925 ई० में काकोरी कांड के नायक रामप्रसाद बिस्मिल, अश्फाकउल्लाखां और राजेन्द्र लाहिड़ी आदि क्रांतिकारियों के साथ वे भावात्मक और विचारात्मक रूप से जुड़ गए। एक बार 1923 ई० में वे मातृभूमि की स्वतत्रता के पावन यज्ञ में जीवन की आहुति देने के लिए घर-परिवार से विदा लेकर अज्ञात यात्रा पर निकल पड़े। कानपुर में गणेश शंकर विद्यार्थी से मिले तो उन्होंने भगतसिंह को पंजाब क्षेत्र की जिम्मेदारी देकर वापिस पंजाब भेज दिया।

फिर आया 3 नवम्बर 1928 ई० का वह मनहूस दिन जब साइमन कमीशन ने राजनीतिक जकड़बदी और कानूनी दमन के लिये नये पैंतरे तलाशने के लिए इस देश की धरती पर क़दम रखा। गांधी जी के आह्वान पर देशव्यापी प्रदर्शन हुए। लाहौर में लाला लाजपत राय पुलिस के हाथों घायल हुए और उसी अवस्था में 17 नवंबर को उनका निधन हो गया।

जनमानस का सारा रोष मानों भगतसिंह और उनके साथियों के रूप में प्रकट हुआ। ए०एस० पी० सांडर्स की हत्या से लोगों को बड़ा सुकून मिला और भगतसिंह इस कार्य से लोकनायक बन गए जैसे किसी योद्धा ने किसी अपराधी को दण्ड दिया हो। इस तरह क्रांतिकारियों का सम्मान जनसाधारण में बहुत बढ़ गया। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने अपनी आत्मकथा में लिखा—

"भगतसिंह प्रतीक बन गए थे। अपने इस कार्य के कारण, लोग कार्य भूल गए पर प्रतीक बना रहा और कुछ महीनों में पंजाब के प्रत्येक शहर और गांव में और कुछ हद तक बाकी सारे भारत में उनका नाम गूंजने लगा...लोकप्रियता जो उस आदमी ने प्राप्त की विस्मयकारी थी—अद्भुत थी।"

यही समय था जब भगतसिंह ब्रिटिश सरकार की आंखों की किरकिरी बन गए। समय की नजाकत को देखते हुए उन्होंने केश कटवा डाले और लाहौर से कलकत्ता पहुंच गए। गदरपार्टी के बाबा रणधीर जी को उन्होंने एक खत में लिखा "मैं सिख धर्म की बंद कटाने की परंपरा का कायल हूं। अभी तो मैंने एक बंद कटवाया है वह भी पेट के लिए नहीं देश के लिए, जल्दी ही गर्दन भी कटवाऊंगा...।" यह सन्देश पढ़ कर बाबा जी का गुस्सा शांत हो गया और वह उनसे मिलने लाहौर जेल गए।

इन्हीं दिनों 8 मार्च 1929 के दिन चन्द्रशेखर आज़ाद और बटुकेश्वर दत्त के साथ परामर्श करके धारा सभा में बम फेंकने की योजना बनाई। ट्रेड यूनियन नेता ए० एस० डांगे, मुजफ्फर अहमद, ए० वी० घाटे तथा अन्य 29 नेताओं को बिना कोई कारण बताए गिरफ्तार कर लिया गया था। और इस तरह की गैर कानूनी, राजनीतिक उद्देश्यों से की गई गिरफ्तारियों को कानूनी बनाने के लिए धारा सभा में 'पब्लिक सेफ्टी बिल' और 'ट्रेड डिस्प्यूट्स बिलों' को सेन्ट्रल असेम्बली में पास किया जाना था। बम फेंका गया केन्द्रीय सभागार धुंएं से भर गया। दो गोलियां चलने की आवाज़ आई और साईमन वहां से भाग खड़ा हुआ। परन्तु भगत सिंह अपने साथी के साथ अपने स्थान पर खड़े 'इन्कलाब जिन्दाबाद', "साम्राज्यवाद मुर्दाबाद" के नारे लगाते रहे। उनके इस कार्य से ब्रिटिश सरकार को देश में फैले असंतोष और आक्रोश का अंदाज़ा हो गया। हालात ऐसे हो गए थे कि कांग्रेस को भी अपने लाहौर अधिवेशन में 26 जनवरी 1930 में 'पूर्ण स्वराज्य' तथा 'करो या मरो' जैसे असहयोग कार्यक्रमों की योजनाओं की घोषणा करनी पड़ी।

इसके बाद आठ अप्रैल 1929 से अक्तूबर 1930 तक उन पर गंभीर मुकद्दमे चलते रहे। इस दौरान पढ़ना और लिखना उनके जीने का तरीका बन गया था जो 23 मार्च 1931 तक चलता रहा। उनका बलिदान देश के नौजवानों के लिए ऐसी प्रेरणा बन गया कि नेता जी सुभाष चन्द्र बोस को "खून देकर आज़ादी लेने वालों" का इंतज़ार नहीं करना पड़ा।

भगतसिंह केवल क्रांतिकारी नहीं एक विचारक भी थे। आचरण के विचारक थे, कथनी के नहीं। उनकी नास्तिकता उनके व्यक्तित्व का विशेष पहलू है जिसके लिए कभी-कभी उन्हें अपने मित्रों के आगे जवाबदेह भी होना पड़ा था। इस समय पूरे भारत में सांस्कृतिक पुनुर्त्थान का बोलबाला था। पंजाब में धार्मिक शक्तियां आर्यसमाज, हिन्दूमहासभा, अकाली

आंदोलन तथा मुस्लिम लीग आदि के रूप में सक्रिय थीं और भगतसिंह ठहरे मार्क्स दर्शन के भक्त, समाजवाद के प्रवक्ता और मानवता के हितैषी। उनकी नास्तिकता अहंकार नहीं बल्कि अंधविश्वासों, पुन: उत्थानवादी था प्रतिक्रियावादी सोच से मुक्ति पाने के लिए संघर्ष तथा इंकलाबी नज़रिए का एक हिस्सा थी। परंपरावादी इसे गिरावट के रूप में देखते थे परन्तु ऐसी नास्तिक सोच उनकी स्वतंत्र हस्ती की द्योतक है। आज़ाद जिंदगी और आज़ाद मृत्यु का सौंदर्य है। बुलंदखुदी का प्रतीक है। इस खुदी को पा लेना जितना आसान होता है उसे जीना उतना ही कठिन जैसे तलवार की धार पर चलना होता है। भगतसिंह ने वही कठिन राह चुनी थी उसी तरह जैसे मनसूर ने ईश्वर को नकारा था श्रीकृष्ण कथन "अहम् ब्रह्मास्मि', नीतशे ने घोषणा की "ईश्वर मर चुका है"

बुलंद खुदी, ऊंचे और सच्चे किरदार, अपने आदर्शों के लिए हर कीमत अदा करने वाला व्यक्ति ही नास्तिक हो सकता है। लोभ और अहंकार से मुक्त विलक्षण साहस और धैर्यवाला व्यक्ति ही मौत से ठिठोली कर सकता है। लाहौर सेंट्रल जेल के चीफ वार्डन सरदार चतर सिंह को उन्होंने वाहिगुरू का नाम लेने और गुरूवाणी का पाठ करने से यह कह कर इन्कार कर दिया—"मुझ पर नास्तिक होने का इल्ज़ाम तो है पर यह तो कोई नहीं कहेगा कि भगतसिंह बुज़दिल और बेईमान भी था, अंतिम समय में मौत को देखकर उसके पांव लड़खड़ाने लगे।" उनकी नास्तिकता की चर्चा हर क्षेत्र के लोग अपने अपने ढंग से करते थे उन्होंने एक लम्बा लेख लिखा "में नास्तिक क्यों हूं ?"—एक अश।

"मैं नास्तिक अपनी सोच से बना हूं। मैं अपनी जिंदगी अपने आदर्श की खातिर कुर्बान कर दूगा—सिवाए इसके मेरे पास और कौन सा अवलंबन है—मैं नास्तिक था अब भी हूं। ईश्वर पर विश्वास बंदे की मुश्किलें कम कर देता है। उसके बिना आदमी को अपने आप पर निर्भर होना होता है—कंटीली झाड़ियों से साबुत गुज़र जाना कोई बच्चों का खेल नहीं होता। ऐसे हालातों में तो यदि कोई अहंकार बचा भी हो तो वह भी काफूर हो जाता है। आदमी अपने विश्वासों का उल्लंघन नहीं कर सकता। यदि वह ऐसा करता है तो यह सिर्फ अहंकार क अलावा कोई और ताकत भी होती है। आत्मविश्वास को अहंकार समझा जाता है, यह बड़ी दयनीय स्थिति होती है।"

ऐसे थे वीर पराक्रमी सरदार भगत सिंह। जिन्होंने संघर्ष का बसंती चोला पहन आज़ादी की महाधूनी रमाई। □

क्रांति के अग्रदूत गुरु रामसिंह और कूका विद्रोह

□ डा. सुषमा सरल

जब ईस्ट इंडिया कम्पनी के अंग्रेज़ अधिकारी राज्य स्थापना की आकांक्षा से कूटनीति के आधार पर हमारे देश पर आधिपत्य जमाने में लगे थे, तब पंजाब में महाराजा रणजीत सिंह का राज्य था। रणजीत सिंह न्याय-प्रिय, कर्त्तव्यपरायण और प्रजा-सेवी होने के साथ कुशल और दृढ़ शासक भी थे। उनकी सेना में शामिल होने में पठान और विदेशी भी गर्व अनुभव करते थे। उनका वैभवशाली राज्य और प्रभावशाली व्यक्तित्व अंग्रेज़ों और पठानों के लिये चुनौती थी। परन्तु दुर्भाग्य से वह तेजस्वी सूर्य 27 जून, 1839 को अस्त हो गया और अंग्रेज़ों को अपनी मनचाही करने का अवसर मिल गया। दस वर्षों में ही सारे पंजाब के मान-चित्र का रंग बदल गया और पंजाब पराधीनता की बेड़ियों में जकड़ दिया गया।

अंग्रेज़ी राज्य में पंजाब में मुक्ति के उद्घोषक सबसे पहले महापुरुष स्वतंत्रता संग्राम के क्षेत्र में अवतीर्ण हुए, वे थे सदगुरु रामसिंह। गुरु-गद्दी पर आसीन होते ही इन्होंने एक नए पंथ का सूत्रपात किया जो 'नामधारी' या कूका नाम से विख्यात हुआ। समय की आवश्यकता और देश की राजनैतिक स्थिति को ध्यान में रखते हुए, गुरु रामसिंह ने धर्म और राजनीति को एक साथ जोड़ दिया इस मिश्रण से जो नया पंथ प्रचलित हुआ, उसकी भारत में अंग्रेज़ी राज्य से सीधी टक्कर हुई। स्वधर्म और स्वराज्य के लिए ऐसा संघर्ष उस ज़माने में एक महान क्रांतिकारी घटना थी।

कूका आन्दोलन के प्रवर्तक और नामधारी पंथ के संस्थापक सद्गुरु रामसिंह का जन्म बसंत पंचमी के दिन जनवरी 1816 को लुधियाना के भैणीं गांव में हुआ था। वह उच्चकोटि के देशभक्त, दूरदर्शी राजनीतिज्ञ और दक्ष संगठनकर्ता थे। उन्होंने स्वधर्म और स्वराज्य के लिए स्वदेशी और बहिष्कार के साधनों का अहिंसात्मक रूप में प्रयोग किया। उनका पंजाब को 22 सूबों में बांटना, अपनी डाक का पूरे सूबे में सफल आयोजन करना, रेल, सरकारी स्कूल, कचहरी और सरकारी नौकरियों तथा विदेशी माल का बहिष्कार और स्वदेशी तथा

खादी का प्रचार उनकी बुद्धिमत्ता और दूरदर्शिता का प्रमाण था। विदेशी शासन से मुक्ति के लिये 1920 से लेकर भारत के स्वतंत्र होने तक महात्मा गांधी ने भी इसी कार्यक्रम को पूरा करने का प्रयास किया। इस कार्य में वह गांधी जी के दूत थे।

उस महान् और निर्दोष गुरु देशभक्त को भारत सरकार ने राजबंदी बनाकर पंजाब से प्रयाग और प्रयाग से कलकत्ता फिर रगून भेजा तो अंग्रेजों के पत्र 'दि इंग्लिशमैन' ने अपने 14 मार्च 1872 के अंक में भारत-विरोधी होते हुए भी सद्गुरु के प्रति सम्मान और संवेदना-पूर्ण भाव व्यक्त किए और सरकार को उनकी समुचित देखभाल करने की चेतावनी दी। 1872 में मुस्लिम बहावी आंदोलन अंग्रेजों के लिए भयंकर समस्या थी। कलकत्ता में चीफ जस्टिस नार्मन का दिन दहाड़े एक बहाबी नेता अब्दुल्ला ने इस कारण वध कर डाला था कि उसने वहावी नेता अमीरउद्दीन को दंड दिया था। इसी प्रकार अंडमान में शेर अली नामक बहावी बंदी ने लार्ड मेयो का वध किया था। दूसरी ओर हिन्दुओं और सिक्खों ने पंजाब में सद्गुरु रामसिंह के नेतृत्व में कूका आदोलन चलाया था जिसका बढ़ता हुआ प्रभाव अंग्रेज़ों को भयभीत कर रहा था और जिसे दबाने के लिए लारेन्स कोवन ने 66 कूकों को तोप से उड़वा दिया था जिस वीभत्स अमानुषिक कांड की लगभग सभी समाचार पत्रों ने कटु आलोचना की। परन्तु, तमाम आलोचनाओं और जनमत के रोष का केवल इतना ही परिणाम निकला कि सरकारी जांच- पड़ताल के बाद कोवन को गवर्नर-जनरल-इन कौंसल के आदेशानुसार नौकरी से हटा दिया गया। पर उसे 300 रु० मासिक पेंशन दी गई। अम्बाला के कमिश्नर फोरसाइथ को डांट-फटकार के बाद सूबा अवध में उसी पद और वेतन पर तबादला कर दिया गया। जबकि कूका नाम को ही मिटाने पर तुली सरकार की दमन नीति के कारण अत्याचार कल्पनातीत स्थिति को पहुंच गया था। सद्गुरु जी के उत्तराधिकारी और घर वालों पर जो अत्याचार किए गए वह रोंगटे खड़े कर देने वाला वृत्तान्त है। भैणी गांव के प्रवेश-द्वार पर पुलिस चौकी तैनात कर दी गई। नामधारियों के गुरु दर्शन पर प्रतिबंध लगा दिया गया। भैणी को एक प्रकार से बन्दीगृह में बदल दिया गया। 6 वर्ष तक किसी भी सिख को वहां नहीं जाने दिया गया। उसके बाद सिखों को गुरुद्वारे में दर्शन की छूट तो मिली परन्तु उस पर भी इतने प्रतिबंध लगाए गए थे कि अनेकों लोग बिना दर्शन किए बिना नहीं जाते उन्हें अनेक प्रकार के कष्टों का सामना करना पड़ता था।

प्रत्येक नामधारी कूका विद्रोही माना जाता था। उनको अपने-अपने गांव में नज़रबन्द कर दिया गया था। नगरों, कस्बों और ग्रामों की धर्मशालाओं पर सरकारी रिपोर्टर नियुक्त थे जो कूकों के आवागमन और कार्यों की रिपोर्ट देते थे। पांच से अधिक कूकों का किसी भी स्थान पर एकत्रित होना वर्जित था। सारे पंजाब में दीवाना होना असम्भव हो गया। अखंड पाठ करने और कराने के अपराध में कूकों को पांच से सात वर्ष तक के कारावास का दण्ड दिया गया। जुर्माने कठोरता से वसूले गए। कुछ का तो कारावास में प्राणान्त ही हो गया।

बहुत से सूबे भी पंजाब से निकाल दिए गए। कुछ चुनार और असीरगढ़ के किलों में और कुछ मौलमीन (बर्मा) और अदन में रखे गए। इनमें से चार की जेल में ही मृत्यु हो गई। इतना होने पर भी गुरु के देश से निर्वासन के बाद भी कूके सक्रिय बने रहे। अप्रैल 1879 और 1881 अप्रैल के बीच गुरु रामसिंह का एक

सूबा, गुरुचरन सिंह कूका, मध्य एशिया में रूसी अधिकारियों से मिला। उसने गुरु रामसिंह के उत्तराधिकारी बुद्धसिंह के संदेश रूसियों को पहुंचाए और उनके उत्तर प्राप्त किए। उसका मुख्य उद्देश्य नामधारी आन्दोलन के लिए रूसी सहायता प्राप्त करना था। रूसियों से उत्तर प्राप्त कर एक कूका रामसिंह से मिलने बर्मा गया था। बिशनसिंह नामक एक कूके ने भी रूसियों से सम्पर्क स्थापित किया था।

1868-69 में नामधारी कश्मीर की सेना में भर्ती हुए। अक्तूबर 1869 तक 200 से 250 कूके भर्ती हो चुके थे। कूका रेजीमेंट के विषय में जानकारी हासिल करने के लिए भारत सरकार ने एक अधिकारी 1869 के अन्त में जम्मू भेजा था। बाद में अंग्रेज़ों के प्रभाव में आकर महाराजा ने कूकों को सेना से निकाल दिया। 1869 में कूकों का एक सरदार नेपाल के प्रधानमन्त्री राणा जंग बहादुर से मिला। राणा ने गुरु रामसिंह को 500 रु०, एक तिब्बती घोड़ा, दो खुखरियां, एक दुशाला और एक माला उपहार में भेजे। गुरु ने राणा के अनुरोध पर कुछ जानवर भेजे। 1871 में अंग्रेजों ने नेपाल पर दबाव डाला कि वह नामधारियों से कोई सम्पर्क न रखें। राणा ने जो 16 सिख अपनी सेना के प्रशिक्षण के लिए रखे थे वे हटा दिए गए।

इस भांति पंजाब और भारत सरकार ने बड़ी सतर्कता, सावधानी, कठोरता और क्रूरता से नामधारी-कूका आंदोलन को दबाने और फिर से किसी भी प्रकार से न उभरने देने का पूरा प्रयत्न किया। परन्तु विदेशी सरकार के क्रूरतापूर्ण और असभ्य तथा पाशविक दमन से वीर कूकों की भावना, साहस और लगन मिट न सकी तथा 1947 तक स्वतन्त्रता संग्राम में निरन्तर भाग लेते रहे।

उनकी सराहना करते हुए पं० जवाहर लाल नेहरू ने बड़े मार्मिक शब्दों में यह आशा और विश्वास प्रकट किया था—"श्री सद्‌गुरु रामसिंह जी ने अपनी मातृभूमि की स्वतन्त्रता के लिए आज से 75 वर्ष पूर्व जो महान गौरवशाली प्रयास किया था उसके महत्त्व से कोई भी भारतीय इन्कार नहीं कर सकता। 75 वर्षों का समय बीत जाने पर भी वह कार्यक्रम पुराना नहीं हुआ है। इसका प्रयोग प्रारम्भ करने में आपने बड़ी कठिनाइयों और कष्टों का सामना किया था।

"मुझे विश्वास है कि यदि प्रत्येक सिख उस मार्ग पर जो आपने दिखाया था चल पड़े तो भारतीय स्वतन्त्रता युद्ध में बेहद सरगर्मी पैदा हो जाए और आश्चर्य नहीं कि सिखों की आजमाई हुई वीरता के कारण इस शानदार रवायतों वाले देश की जंजीरें बहुत जल्द टूट जाएं।"

नेता जी सुभाषचन्द्र बोस के कहे शब्द उनके क्रान्तिकारी आन्दोलन के विषय में बड़े प्रेरक और उत्साहवर्धक हैं :—"गुरु राम सिंह जी के फहराए हुए आज़ादी के झण्डे तले नामधारी कूकों ने जो बलिदान दिए हैं उन पर देश सदा गौरव करेगा। अब फिर भारतीयों के देश प्रेम की परीक्षा होने वाली है। पौन सदी से अहिंसात्मक आन्दोलन का अनुभव रखने वाले नामधारी कूकों से यही आशा है कि वह स्वतन्त्रता का झंडा उठाकर आगे-आगे बढ़ते दिखाई देते रहेंगे और दूसरे देशवासियों को जो बलिदान के लिए उत्साहित करते रहेंगे। गुरु रामसिंह जी भारत में अहिंसात्मक असहयोग के सर्वप्रथम नेता रहे।"

यह भी उल्लेखनीय है कि 1834 में वे बीस वर्ष की आयु में वे महाराजा रणजीत सिंह की सेना नौनिहाल सिंह रेजिमेंट में भर्ती हो गए थे। परन्तु वह अधिकतर ईश्वरोपासना में संलग्न रहते थे। इसी समय सामाजिक स्थिति का निकट से अध्ययन करके वह विह्वल हो उठे। मन में वैराग्य की भावना प्रदीप्त होते ही 1845 में सिख सरदारों का चरित्र-पतन देख कर वह अपनी बंदूक सतलुज में फेंक कर अपने गांव भैंणी चले गए। 1841 में एक बार अपनी पलटन के साथ पेशावर जाते समय रास्ते में हज़रों नगर में श्री गुरु बालक सिंह जी से नाम दीक्षा प्राप्त की थी। और अवकाश ग्रहण करने पर सीधे उन के पास तीसरी बार हज़रों चले गये तो गुरु बालक सिंह जी को राम सिंह जी में सर्वगुण सम्पन्न उत्तराधिकारी मिल गया और उत्तराधिकारी नियुक्त करते समय कहा कि : 'देश और जाति की बिगड़ी हुई दशा सुधारने के लिए कमर कस लो। जब कोई देश विदेशियों के कब्ज़े में रहे तब तक वह आत्मिक, आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक उन्नति नहीं कर सकता। इसीलिए अब देश को अंग्रेज़ों की दासता से मुक्त कराने की परम आवश्यकता है।"

गुरु रामसिंह भैंणी गांव में ही गुरु-गद्दी के उत्तराधिकारी हो गये और कटिबद्ध हो राजनैतिक क्षेत्र में उतर आए थे जिस धार्मिक पंथ के वह गुरु थे वह 'नामधारी' नाम से विख्यात हुआ। तत्पश्चात् उन्होंने यही ललकार या कूक दी जिससे वह कूका कहलाए :—

आ गया है कर्मयुग कुछ कर्म करना सीख लो।

देश, धर्म और जाति हित हंस-हंस कर मरना सीख लो।

मारने का काम मत लो, पहले मरना सीख लो।

देश को स्वतंत्र करना है तो दब-दब उभरना सीख लो।

13 अप्रैल सन् 1857 को बैसाखी के दिन सद्गुरु रामसिंह ने एक नये संगठन की नींव रखी जिसे 'नामधारी पंथ' के नाम से ख्याति प्राप्त हुई। उसी दिन उन्होंने अपना सफेद तिकोना झण्डा लहराया था और अपने अनुयायियों को मूल सिद्धान्त समझाये थे। नामधारी पंथ की स्थापना के समय गुरु राम सिंह ने खण्डे का अमृत तैयार किया। यह अमृतपान स्त्री-पुरुष सभी को करा के गुरु जी ने एक नयी क्रान्तिकारी परिपाटी को जन्म दिया। नामधारियों की वर्दी निश्चित कर सिर पर एक विशेष प्रकार की खादी की पगड़ी, सफेद खादी का कुर्ता और सफेद खादी का पायजामा तथा गले में सफेद ऊन की माला और मुख में वाहेगुरु का नाम। उन्होंने स्वधर्म और स्वराज्य के महान् संघर्ष के लिए पंजाब में इस संगठन को विस्तृत दृढ़ और इतना सबल बनाया कि यह एक पंजाबव्यापी आन्दोलन बन गा। उन्होंने लोगों की धर्म विमुखता को भी पंजाव का अपनी स्वतन्त्रता खोने का एक कारण पाया और निश्चय किया कि स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए हिन्दू तथा सिख समाज की बुराइयों को दूर कर लोगों को चरित्रवान और दृढ़-संकल्प बनाना आवश्यक है तथा नामधारी सिखों एवं अन्य लोगों ने सद्गुरु रामसिंह की आज्ञाओं का पूरी सावधानी से पालन किया। जो लोग उन के सम्पर्क में आते वे भैंणी गांव में जाकर सद्गुरु के दर्शन करते।

सद्‌गुरु राम सिंह जी के प्रेममय सदुपदेश और तेजस्वी व्यक्तित्व से हिन्दू ही नहीं बल्कि मुसलमान भी आकर्षित और प्रभावित हुए। गुरु रामसिंह जी ने देश को स्वतन्त्र कराने और राजनैतिक उत्थान हेतु देश भक्ति, गोभक्ति तथा विश्वबन्धुत्व की महान भावनाओं का प्रचार किया। सामाजिक तथा धार्मिक कार्यक्रम के अतिरिक्त राजनैतिक कूका आन्दोलन में भाग लेने वालों को निम्नलिखित कार्यक्रम पूरा करने का आदेश दिया :—

1. कूका ईस्ट इण्डिया कंपनी की नौकरियां स्वीकार न करें।
2 अंग्रेज़ों की चलाई शिक्षा-संस्थाओं में न पढ़ें।
3. गवर्नर-जनरल और अधीन अधिकारियों द्वारा जारी किये गये आदेशों का पालन न करें।
4. विदेशी वस्त्र का बहिष्कार करें।
5. सरकारी अदालतों, रेलों और डाकतार व्यवस्था का बहिष्कार करें।

नामधारी विद्रोह उस आंदोलन का ही भाग था जो सिखों के पुनरुत्थान के लिए गुरु गोविंद सिंह ने 17वीं शताब्दी में चलाया था। रणजीतसिंह के समय में सिखों की जो शक्ति थी, उसे एक बार फिर प्राप्त करने की इच्छा ने नामधारी आंदोलन का रूप लिया। धर्म के आधार पर गुरु गोबिन्दसिंह औरंगजेब से लड़े थे। गुरु रामसिंह ने भी आज़ादी को धर्म के अंग के रूप में स्वीकार किया। कूका आन्दोलन में सामाजिक सुधार, धार्मिक पुनरुत्थान और राजनैतिक स्वतंत्रता एक में सम्बद्ध थे। रणजीतसिंह के समय के राजनैतिक गौरव को प्राप्त करना उनके धर्म का अंग था।

गुरु रामसिंह ने अपने अनुयायियों तथा साधारण जनता में भी सर्वप्रथम विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार तथा स्वदेशी का प्रचार आरम्भ किया, अंग्रेज़ों के न्यायालयों का सर्वथा बहिष्कार कराया। पारस्परिक विवादों को निपटाने के लिए पंच-मण्डली का उपयोग किया। अंग्रेज़ों के स्कूल कालेज आदि शिक्षा-संस्थाओं का, तार, डाक तथा सरकारी नौकरी के पूर्ण बहिष्कार की प्रेरणा दी। घर-घर में लोग चर्खे चला कर हाथ से कते सूत का कपड़ा बना कर पहनने लगे। नामधारी कूके मोटर और रेल छोड़ कर पैदल या बैलगाड़ी या घोड़ों पर ही चलते थे। कूकों ने अपनी स्वतन्त्र डाक-व्यवस्था चलाई। पूरे पंजाब में बिना मूल्य डाक ले जाने और बांटने की व्यवस्था की गई। डाक सेवा का यह कार्य पंजाब में नामधारी कूकों में स्वतन्त्रता-प्राप्ति तक निरन्तर चलता रहा। पंजाब के दूर-दूर के भागों में कूकों का सन्देश भेजने की निश्चित व्यवस्था थी। चार कूके तेजी से पास के गांवों में जाते और विश्वस्त कूकों को जवानी सन्देश सुनाते। वे कूके तुरन्त रवाना हो जाते और यह क्रम चलता रहता। उन्होंने बाद में अपना कार्यक्षेत्र और विस्तृत किया। सरकार ने बौखला कर कुछ समय के लिए कुछ प्रतिबन्ध लगा दिए थे।

और जब 1 अप्रैल, 1863 को गुरु रामसिंह अपने सेवकों सहित अमृतसर पहुंचे तो पंजाब के लेफ्टिनेंट गवर्नर के आदेशानुसार लाहौर के डिप्टी इन्स्पेक्टर जनरल पुलिस, मेजर मेक, अमृतसर के डिप्टी कमिश्नर मेजर मरे और जिला सुपरिंटेण्डेण्ट सद्‌गुरु जी के पास पहुंचे क्योंकि उन्हें गुरु जी के आंदोलन का उद्‌देश्य जानने का विशेष आदेश था। मरे ने

उनके साथ वार्तालाप करने के बाद सूचना भेजी कि "उनके सेवक हृष्ट-पुष्ट और जवान हैं। उनकी बातचीत का ढंग विद्रोहात्मक नहीं हैं। वह शांतिमय और गम्भीर प्रकृति के प्रतीत होते हैं। अतएव भरे मेले में उनके कार्यक्रम में हस्तक्षेप करना उचित नहीं समझा गया।"

6 जुलाई, 1863 को सद्गुरु रामसिंह को लुधियाना बुलाकर 30 जून, 1863 को निकाला गया आदेश सुनाया गया जिसमें कहा गया था कि रामसिंह अमृतसर में कोई सम्मेलन (दीवान) न करें और यदि इस चेतावनी के बाद भी सम्मेलन किया गया और कोई झगड़ा हुआ तो शांतिभंग के अपराध में उन पर मुकद्दमा चलाया जाएगा। अंत में लिखा गया था कि रामसिंह को हिदायत दी जाती है कि वह अपने गांव में ही रहें। पुलिस उन उन पर निगरानी रखेगी और उनकी सरगर्मियों की सूचना देगी। और उसी दिन से उनकी निगरानी के लिए पुलिस तथा गुप्तचर नियुक्त किये गए। सद्गुरु पर यह प्रतिबन्ध था कि वह बड़े सम्मेलनों, मेलों और दीवानों में बिना सरकारी अनुमति के नहीं जा सकते थे। परन्तु 1866 में होला-महल्ला के त्योहार के अवसर पर, जो होली के दिनों में खोटा गांव (जिला फिरोजपुर) में हुआ करता था वह बिना सरकारी आज्ञा प्राप्त किए चले गए। सरकार ने इस पर कोई कारवाई तो नहीं की परन्तु यह बात सरकार को बहुत आपत्तिजनक लगी। अगले वर्ष, 1866 में होली के त्योहार पर सद्गुरु ने सरकारी आज्ञा प्राप्त करने के लिए सूबा लक्खा सिंह को लाहौर भेजा परन्तु आज्ञा नहीं मिली। इस पर उन्होंने घोषणा कर दी कि सरकार से आनन्दपुर जाने की अनुमति हमें यदि प्राप्त न भी हुई तो भी हम वहां पहुंचेंगे। इस घोषण पर सरकार ने मौन रहकर सद्गुरु जी को जाने दिया गया और उन पर देख रेख रखने को मैकऐण्ड्रज (डी०आई०जी० पुलिस) को लाहौर से आनंदपुर भेजा। वह 17 मार्च, 1867 को पुलिस कर्मचारियों की एक बड़ी टुकड़ी के साथ आनंदपुर पहुंचा। अगले दिन मेजर परकिंस, डिप्टी कमिश्नर होशियारपुर, भी वहां पहुंच गए। इस अवसर के कई विवरण सरकारी सूचनाओं से प्राप्त होते हैं। इन्सपेक्टर फजल हुसैन की मार्च, 1867 की रिपोर्ट से पता चलता है कि आनन्दपुर के मेले में दो दिन में 50 सिख कूके बने। गुरु रामसिंह के साथ, अपने और सूबों की सवारी के लिए, 40 घोड़े थे। उनके जलूस में नगारे बजते थे, ध्वजा फहराती थी। उनके साथ लगभग 8 हजार कूके थे। इसके बाद सद्गुरु रामसिंह जी बिना सरकारी आज्ञा के ही 25 अक्तूबर, 1867 को दीपावली के अवसर पर अमृतसर पहुंच गए। आनंदपुर के समान ही सरकार ने यहां के कार्यक्रम में भी कोई हस्तक्षेप नहीं किया। इस अवसर पर 20 हजार कूके जमा हुए। सारा कार्यक्रम बड़ी सज-धज और उत्साह से हुआ। 27 और 28 अक्तूबर को भी सद्गुरु जी ने धूम-धाम से दरबार साहिब पहुंचकर हजारों की संख्या में भक्तों के साथ भेंट चढ़ाई। इस समय दो हजार व्यक्ति कूके बने।

प्रत्यक्ष रूप से सरकार ने कूका कार्यक्रम में कोई बाधा नहीं डाली परन्तु सरकार सद्गुरु जी की बढ़ती हुई शक्ति से शंकित अवश्य थी। सरकार कूका कार्यक्रम का मुख्य मन्तव्य पंजाब में पंजाबी सरकार की स्थापना समझती थी। सरकारी दृष्टिकोण से प्रत्येक कूका विद्रोही था, और सद्गुरु रामसिंह लाखों विद्रोहियों के अद्वितीय नेता थे। सितम्बर 1866 में ही पंजाब सरकार को एक रिपोर्ट में अम्बाला के कमिश्नर, कर्नल आर०जी० टेलर ने लिखा था, "यह मेरा निश्चित मत है कि कूका आंदोलन का उद्देश्य अंग्रेजों से लड़ना

है। सरकार को इसे चेतावनी के रूप में जानना चाहिए।" दो साल बाद डोनोबन नामक एक अंग्रेज़ ने सरकार को लिखा था, "देश में एक भीषण कुचक्र चल रहा है और गुरु रामसिंह ने हमारे विरुद्ध दो लाख लोगों को विद्रोह करने और अंत में हमें पंजाब से बाहर निकालने के लिए एकत्रित कर लिया है। अगले वर्ष के आरम्भ में किसी भयानक उथल-पुथल की आशंका है। कूकों की शक्ति दिन प्रति दिन बढ़ती जा रही है। सभी सिख सरदार इसमें सम्मिलित होते जा रहे हैं। सारे भारत में विद्रोह की गूंज है। इसलिए हमारी सरकार को उदारता से काम नहीं लेना चाहिए।"

17 जनवरी, 1872 को कूका देशभक्त वीरों को मालेर कोटला के जमालपुर गांव के समीप एक रक्कड़ पर ले जाया गया जो आज तक 'कूकों का रक्कड़' कहलाता है। वहां एक कतार में कूकों को खड़ा किया गया तथा दूसरी ओर रिसाले, फौज और उनके अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित सरदार खड़े थे। यह सारा षडयन्त्र लुधियाना के डिप्टी कमिश्नर कोवन का रचा था जिसकी आज्ञानुसार पटियाला, नाभा व जींद से कूकों को दण्ड देने के लिए 9 तोपें आईं। तोपें मोर्चे पर लगा दी गईं। कोवन ने कूकों को तोपों से उड़ा देने का आदेश दिया जो उसकी अधिकार सीमा से बाहर था और कमिश्नर अम्बाला की आज्ञा का उल्लंघन भी था। देशभक्त कूके तोपों को देखकर मुस्कुरा रहे थे। सहस्रों की संख्या में दर्शक भी कूकों के साहस और वीरता से आश्चर्यचकित थे। दो स्त्रियां भी, माता इन्दुकौर और क्षेमकौर, जिन्हें कोवन द्वारा बिना दण्ड दिये पटियाला के सेनाध्यक्ष को सौंप दिया गया था, इस अद्भुत बलिदान की साक्षी थीं। उन्होंने बताया कि कूका वीरों ने तोपों के मुंह पर बांधे जाने से इन्कार कर दिया और वे उमंग से एक दूसरे के आगे बढ़ कर तोपों के मुंह के सामने जाकर खड़े होते थे। कहना न होगा कि कूका विद्रोह ने आज़ादी में महान भूमिका निभायी।

सूरा सो पहचानिए जो लड़े दीन के हेत।
पुरजा-पुरजा कट मरे कबहुं न छाड़े खेत॥
जिस मरने से जग डरे मेरे मन आनन्द।
मरने ही तैं पाइये पूरण परमानन्द॥

उनका कहना था कि—"शूरवीर पीठ में नहीं किन्तु छाती पर वार सहकर प्रसन्न होते हैं। मृत्यु को पीठ दिखाना कायरता है।" सात तोपों के सामने 49 वीरों को सात बार में शहीद कर दिया गया। अन्तिम वार माता क्षेमकौर के इकलौते 12 वर्षीय लाल, पचासवें बीर, बिशनसिंह की आई। इसकी भोली-भाली सूरत और बाल्यावस्था देख कर साथ ही कुर्सी पर बैठी कोवन की पत्नी ने अपने पति से उसे क्षमा करने का आग्रह किया। कोवन ने कहा, "इसको क्षमा किया जा सकता है यदि यह कह दे कि यह रामसिंह का शिष्य नहीं है।" यह सुनते ही बालक आवेश में आकर उछला और उसने झपट कर कोवन की दाढ़ी पकड़ ली और तब तक नहीं छोड़ी जब तक कि पास खड़े अधिकारियों ने अपनी तलवारों उसे मार डाला।

29 दिसम्बर, 1885 को मर्गोई में उनका देहान्त हो गया। 30 दिसम्बर को प्रातः 9 बजे टेनासिरम में उनका दाह-संस्कार किया गया। वहीं पर उनकी समाधि बनाई गई।

इसके विपरीत नामधारियों का यह विश्वास हैं कि सद्गुरु जी चमत्कारिक ढंग से भाग निकले और अपने इसी शरीर में वर्तमान हैं तथा समय आने पर वह अवश्य प्रकट होंगे। इसी एक बात पर आज तक उनके अनुयायी उनके द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर चल रहे हैं। उनकी सद्गुरु रामसिंह में अटूट श्रद्धा और भक्ति है और इसी कारण उनका नाम प्रत्येक नामधारी कूके की जबान पर है।

स्वतंत्रता की देवी को अपने महान बलिदान का पुष्पहार पहनाने वाले ऐसे वीर सद्गुरु को प्रणाम। □

संदर्भ

1. क्रांतिकारी सद्गुरु रामसिंह
   ले० — संत निधानसिंह आलिम,
   प्रका० — नाम संगम दिल्ली।

2. आर्म्ड स्ट्रगल फार फ्रीडम (अंग्रेजी)
   ले० — साहित्याचार्य श्री बाल शास्त्री हरदास
   प्रका० — काल प्रकाशन पूना।

3. विप्लव यज्ञ की आहुतियां
   सम्पादक एवं प्रकाशक :-
   बटुकनाथ अग्रवाल,
   क्रांतिकारी प्रकाशन,
   लाजपत रोड, मिर्जापुर।

4. गुरु रामसिंह एण्ड दि कूका सिख (डाकूमेंण्टस) अंगरेजी
   कम्पाइल्ड बाई नाहरसिंह एम०ए०
   प्रा० — अमृत बुक डिपो क०
   कनाट सर्कस, नई दिल्ली।

5. गुरु रामसिंह और कूका विद्रोह।
   ले० — रामशरण विद्यार्थी
   प्रकाशन विभाग
   सूचना और प्रसारण मंत्रालय
   भारत सरकार।

6. भारतीय धर्म एवं संस्कृति
   ले० — बुद्ध प्रकाश
   प्र० — मीनाक्षी प्रकाशन
   बेगम ब्रिज मेरठ।

देश भक्ति के महाप्राण पं० रामप्रसाद बिस्मिल और काकोरी कांड

□ नीलम महाजन

मातृभूमि की स्वतन्त्रता के लिए जीवन के अशेष सुखों को त्याग कर महानतम उद्देश्य के लिए क्रांतिपथ का वरण करने वाली क्रांतिकारी विभूतियों में पं० रामप्रसाद बिस्मिल का नाम अग्रगण्य है।

भारत के इतिहास में यह एक विलक्षण और रोमांचकारी पहली घटना है जिस व्यक्ति को फांसी की सजा सुनाई जाने वाली हो और वह व्यक्ति एकचित्त शांत व स्थिर फांसी की कोठरी में बैठकर अपने जीवन की आत्मकथा लिखे और लिखकर जेल की चारदीवारी के बाहर भी भेज दे। और फिर ऐसी कठोर व्यवस्था के रहते, जहां परिन्दा भी पर नहीं मार सकता हो।

ब्रिटिश सरकार के रहते फांसी की कोठरी में एक क्रांतिकारी द्वारा चोरी-छिपे की गई यह रचना वास्तव में महान जोखिम का काम था परन्तु बिस्मिल जैसे महान क्रांतिकारी के लिए इतना सब कुछ कर लेना एक महान् साहस का कार्य था।

विश्व भर में क्या कोई ऐसा व्यक्ति है जो अपनी मृत्यु की घोषणा सुनकर भी निश्कंप, अडोल बना रहे। बिस्मिल जितने साहसी थे उससे अधिक आत्मविश्वासी, दृढ़ निश्चयी और कर्त्तव्यपरायण थे। "बन्दे मातरम" और भारत माता की जय कह कर स्वयं फांसी के फंदे पे झूल जाना और हंसकर यह कहना कि—

"दिल फिदा करते हैं कुरबान जिगर करते हैं।
पास जो कुछ है वह माता की नजर करते हैं॥
खाना-ए-वीरान कहां देखिये घर करते हैं।
खुश रहो अहले वतन हम तो सफर करते हैं॥"

यह वाणी, यह पंक्तियां उस महान व्यक्ति के साहस की परिचायक हैं। ऐसी वीरोचित मृत्यु शायद ही किसी को प्राप्त हुई होगी। पूर्ण युवावस्था में इस वीर क्रांतिकारी ने भारत माता को स्वतन्त्र कराने के लिए अपने प्राणों की आहुति दे दी। सन् 1897 ई० में जन्मे पं० रामप्रसाद बिस्मिल ने अपने जीवन के 11 साल क्रांतिकारी के रूप में बिताए। 19 वर्ष की अल्पायु से इस युवक ने देश की नब्ज़ को पहचाना और वह कार्य कर दिखाये, जो ऐतिहासिक घटनाएं बन कर आज भी भारतवासियों को रोमांचित करती हैं। जिन दिनों भारतीयों पर अंग्रेज़ी सरकार का दमनचक्र चल रहा था देश में तभी बगावत ने ज़ोर पकड़ा जो सन 1857 की क्रांति के समान उग्र रूप धारण कर गया। इस समय बिस्मिल को देश भक्ति की भावना ने स्वतन्त्रता संग्राम के मैदान में ला खड़ा किया और इनके उत्साहजनक कार्यों, सूझबूझ तथा शायरी का लोगों पर अच्छा प्रभाव पड़ा जिसके फलस्वरूप चन्द्र शेखर आज़ाद, भगतसिंह, राजेन्द्र लाहिड़ी,अश्फाक उल्ला खां. सुखदेव, राजगुरु, रोशनसिंह तथा गेन्दालाल दीक्षित आदि जैसे प्रसिद्ध क्रांतिकारी क्रांति की ओर अग्रसर हुए।

1897 में पंडित मुरलीधर के घर एक पुत्र ने जन्म लिया। बिस्मिल जी की शिक्षा सात वर्ष की अवस्था से ही प्रारम्भ हो गई थी। पं० रामप्रसाद विस्मिल पर उनकी मां का गहरा प्रभाव था। अपने जीवन की सभी सफलताओं का श्रेय उन्होंने अपनी मां को ही दिया है। मां के प्रति श्रद्धा व्यक्त करते हुए उन्होंने लिखा है---

"यदि मुझे ऐसी माता न मिलती तो मैं भी अति साधारण मनुष्यों की भांति संसार चक्र में फंस कर जीवन निर्वाह करता। उन्होंने अपने जीवन में अपनी मां को ही सब से बड़े आदर्श के रूप में देखा था। रामप्रसाद बिस्मिल बचपन से ही बहुत शरारती तथा उद्दण्ड स्वभाव के थे। सन् 1915 में प्रसिद्ध कांतिकारी भाई परमानन्द को लाहौर षडयन्त्र के मामले में फांसी की सज़ा सुना दी गई थी।

रामप्रसाद बिस्मिल जी भाई परमानन्द के विचारों से प्रभावित थे। इस फैसले का समाचार पढ़कर बिस्मिल का देशानुराग जाग पड़ा। उन्होंने उसी समय अंग्रेजों के अत्याचारों को मिटाने तथा मातृभूमि की स्वतन्त्रता के लिए सतत प्रयत्न करने की प्रतिज्ञा कर ली।

मैनपुरी षड्यन्त्र रामप्रसाद बिस्मिल के जीवन की प्रथम महत्त्वपूर्ण घटना है। इस षड्यन्त्र के बाद ही उनकी गणना प्रसिद्ध क्रांतिकारियों में होने लगी थी। इस षड्यन्त्र में रामप्रसाद बिस्मिल जी फरार हो गए थे। मैनपुरी षड्यन्त्र से फरार हो जाने के बाद बिस्मिल ने पुलिस की नज़रों से बचकर ग्वालियर में अपनी पैतृक भूमि पर खेतीबाड़ी भी की।

इस दौरान उन्होंने कई पुस्तकों का अध्ययन किया और बंगला के क्रांतिकारी साहित्य का हिन्दी अनुवाद करने का निश्चय किया। उन्होंने अनुवाद की गई प्रथम पुस्तक का हिन्दी में नाम 'बोलशेविकी की करतूत' रखा। दूसरी पुस्तक 'मन की लहर' थी।

अपने क्रांतिकारी जीवन के दौरान रामप्रसाद बिस्मिल ने कई डकैतियां डालीं जिसके लिए उन्हें कई खतरों से भी गुज़रना पड़ा। बिस्मिल केवल एक क्रांतिकारी ही नहीं थे, अपितु वे एक चिन्तक भी थे। यों तो हर क्रांतिकारी एक राजनीतिक चिन्तक होता ही है,

किन्तु बिस्मिल की आत्मकथा का अवलोकन करने से वह एक दूसरे रूप में भी हमारे सामने आते हैं, समाज, धर्म, संस्कृति, राजनीति आदि से सम्बद्ध उनके एक विशेष दृष्टिकोण का परिचय कराता है जो उनके बहुमुखी व्यक्तित्व को अभिव्यक्त करता है।

काकोरी कांड बिस्मिल के क्रांतिकारी जीवन का एक प्रमुख हिस्सा बन गया जोकि उन की मृत्यु का कारण भी बना। यह कांड इसलिए भी प्रचलित हुआ क्योंकि इसमें डाली गई डकैती किसी गांव, शहर, या जमींदार के घर पर न होकर काकोरी में रेल के खजाने की लूट थी, जिससे न केवल सभी यात्री अचम्भित हो गये बल्कि बड़े से बड़े अंग्रेज़ अफसर भी सहम गये।

यह डकैती बिस्मिल ने अशफाक आज़ाद और अन्य क्रांतिकारी वीरों के साथ मिलकर डाली थी जिसमें रेल को रोक कर, तिजोरी को तोड़कर खज़ाने की थैलियों को निकाला गया था। खज़ाना लूटने की बात जंगल में आग की तरह फैल गई। जिस कारण लखनऊ पहुचने से पहले ही स्थान-स्थान पर पुलिस ने नाकेबन्दी कर ली और सभी तरफ जोरों से धर-पकड़ शुरू हो गई जिससे पूरा तंत्र कहीं गहरे प्रभावित हुआ। बहुत से लोगों के वारंट निकाले गये और उनके साथ-साथ बिस्मिल तथा अशफाक और आज़ाद के भी दस्ती वारंट निकले। बिस्मिल कुछ समय के लिये भूमिगत हो गये।

काकोरी कांड 9 अगस्त 1925 को हुआ। इस दिन क्रांतिकारियों का एक दल शाहजहांपुर से इस गाड़ी में सवार हो गया। इस गाड़ी में रेल के स्टेशनों के अतिरिक्त कोई और खज़ाना भी आ रहा था। दल का एक सदस्य स्थिति की टोह लेने के लिए पूरी गाड़ी में घूम आया। लगभग सारी जानकारी हासिल करने पर यह कार्य शुरू किया गया और पूरी सतर्कता तथा होशियारी से डकैती डाली गई लेकिन काकोरी कांड वास्तव में क्रांतिकारियों के लिए अभिशाप सिद्ध हुआ। इस कार्य में अशफाक उल्ला, राजेन्द्र लाहिड़ी तथा शचीन्द्र बक्शी द्वितीय श्रेणी में यात्रा कर रहे थे, शेष सात सदस्य तृतीय श्रेणी में। निर्धारित स्थान काकोरी के आने से कुछ देर पहले जंजीर खींची गई और गाड़ी रुक गई। इस समय अन्धेरा हो रहा था गाड़ी रुकने के कारण यात्री बाहर देखने लगे लेकिन उन्हें चेतावनी दी गई कि हम लोग केवल सरकारी खज़ाना लूटने आए हैं किसी को कुछ नहीं कहा जाएगा। इस प्रकार खज़ाना लूटने के बाद यह दल लखनऊ की ओर चल पड़ा। लखनऊ पहुंच कर समस्त धन राशि बिस्मिल ने किसी के पास छिपा दी। काकोरी कांड की सूचना अखबार वालों को उसी रात मिल गई थी। लखनऊ में उस समय 'इण्डियन डेली टेलीग्राफ' नाम का एक ही समाचार पत्र निकलता था। उसमें काकोरी कांड का समाचार छपा था। जिसमें इस घटना का पूरा ब्योरा दिया गया था। काकोरी कांड से प्राप्त धन से दल ने जितना कर्ज था चुकता कर दिया और बाकी का नये हथियारों की खरीदने तथा प्रत्येक क्रांतिकारी केन्द्र की व्यवस्था को सुचारू बनाने के लिए और उनका विस्तार करने के लिए भी कार्यकर्ताओं को भेजा गया। बिस्मिल बड़े उत्साह से दल को सशक्त बनाने में जुट गए।

काकोरी की डकैती के बाद बिस्मिल शाहजहाँपुर पहुंच गये। दल की इस प्रकार की स्थिति से वह अत्यन्त चिन्तित थे। वह दल को सशक्त बनाने का विचार करने लगे। निराश होना उन का स्वभाव नहीं था। उन्हें प्रतिपल भारत की स्वतन्त्रता की ही चिन्ता

रहती थी। इधर पुलिस अपनी पूरी शक्ति से डकैती के अभियुक्तों को गिरफ्तार करने का जाल बिछा रही थी। काकोरी की रेल डकैती को सरकार ने एक खुली चेतावनी के रूप में लिया। सरकार एकदम चौकन्नी हो गई। यह डकैती अंग्रेज सरकार की प्रतिष्ठा का प्रश्न बन गई थी, अतः पुलिस विभाग को भी विवश होकर इस बार अपनी पूरी शक्ति का परिचय देना पड़ा।

काकोरी कांड के अभियुक्तों का पता लगाने के लिए सरकार द्वारा मिस्टर हार्टन के निरीक्षण में कार्य करने वाला एक जांच दल बनाया गया। क्रांतिकारियों पर कड़ी निगरानी रखी जाने लगी। पुलिस ने एक ही दिन में सभी क्रांतिकारियों को गिरफ्तार करने की योजना बनाई। सभी क्रांतिकारी जिन्होंने काकोरी कांड में भाग लिया था अपने-अपने केन्द्रों को जा चुके थे। रामप्रसाद बिस्मिल भी शाहजहांपुर पहुंच चुके थे। वह पहले ही पुलिस की दृष्टि में संदिग्ध थे। पूरे शहर में काकोरी कांड की ही चर्चा थी। बिस्मिल के कुछ शुभचिन्तकों ने उन्हें सतर्क रहने की सलाह दी किन्तु वह अपने आप को कुछ ज्यादा ही चतुर समझते थे और ज्यादा चतुराई के अहं ने ही उन को फांसी के शिकंजे में फंसा दिया। साथ ही वह यह भी देखना चाहते थे कि जिस देश की जनता के लिए वह यह सब कर रहे हैं उसे उनसे कितनी सहानुभूति है। वह यह भी देखना चाहते थे कि जेल का अनुभव कैसा होता है।

26 सितम्बर को बिस्मिल को गिरफ्तार कर लिया गया। उनकी जेब से चन्द पत्र प्राप्त हुए। जिन्हें वह डाक निकल जाने के कारण पोस्ट नहीं कर सके थे। उनके घर से कोई भी गैर कानूनी सामान हासिल नहीं हुआ लेकिन यही पत्र उनके दुर्भाग्य का कारण बने इनमें एक पत्र दल की गतिविधियों के विषय में था; जिसे पुलिस ने अपने अधिकार में ले लिया। इसके पश्चात् दल ने गिरफ्तारियां करनी शुरू कर दीं। लगभग चालीस व्यक्ति पकड़े गए, जबकि डकैती में केवल दस व्यक्तियों ने भाग लिया था। गिरफ्तार करके पहले बिस्मिल को कोतवाली ले जाया गया। इसके बाद उन्हें स्थानीय जेल भेज दिया गया। जेल में इस कांड के सिलसिले में गिरफ्तार सभी अभियुक्तों को अलग-अलग रखा गया, कोई भी एक दूसरे से मिल नहीं सकता था। काकोरी कांड का यह मुकद्दमा पहले मैजिस्ट्रेट अइनुद्दीन की अदालत में चला। बाद में सत्र न्यायालय में भेज दिया गया। अमानवीय यातनाओं के विरुद्ध 1927 को काकोरी कांड के अभियुक्तों ने आरम्भ में सुविधाओं की मांग की जो व्यर्थ हो गई।

बिस्मिल की निःस्वार्थ भावना से प्रभावित क्रांतिकारी इस क्षेत्र में आए थे। उन्होंने सदा इसी भावना से देश सेवा का कार्य किया था। सांप्रदायिक दंगों में बिस्मिल ने अपने जीवन की चिन्ता न करते हुए जिनके लिए प्राणों की रक्षा की, उन्हीं लोगों ने उनके विरुद्ध गवाहियां दीं। और 6 अप्रैल सन 1927 को 18 महीनों की कार्यवाही के बाद सेशन जज ने अपना फैसला सुनाया जिसके अनुसार निम्न अभियुक्त दण्डित हुए।

पण्डित रामप्रसाद बिस्मिल, ठाकुर रोशनसिंह, अशफाक उल्ला खां तथा राजेन्द्रनाथ लाहिड़ी इत्यादि। बाकी अन्य को काला पानी की सजा सुनाई गई तथा कईयों को चौदह वर्ष के कारावास की। इस फैसले के विरोध में परे देश में प्रतिक्रिया हुई। सभी अपीलें व्यर्थ गईं।

जेल में रहते हुए अपनी आत्मकथा में बिस्मिल ने लिखा है कि उन्होंने लखनऊ जेल में एक बार भागने की योजना भी बनाई थी। इसके लिये उन्होंने लोहे की सलाखें भी काट डाली थीं, किन्तु जेलर चम्पालाल का व्यवहार सभी कैदियों के साथ अत्यन्त आत्मीयतापूर्ण था, उसके कार्यमुक्त होने के भी थोड़े ही दिन रह गये थे। उनके भाग जाने से जेलर को सरकार का कोपभाजन बनना पड़ता। इसी सब पर विचार करते हुए अन्त में उन्होंने भागने का अपना विचार बदल दिया। लखनऊ जेल में काकोरी के अभियुक्तों को बड़ी आज़ादी थी राय साहब पं० चम्पालाल जेलर की कृपा से हम कभी समझ न सके कि जेल में हैं या किसी रिश्तेदार के यहां मेहमानी में। जेल से निकल जाने का पूरा प्रबन्ध कर, जिस समय चाहता चुपचाप निकल जाता। किन्तु सोचा कि जीवन भर किसी के साथ विश्वासघात न किया। अब भी विश्वासघात न करूंगा।

काकोरी कांड में आज़ाद फरार हो गये थे और फरार होने के बाद वह भगतसिंह के सम्पर्क में आये तब 'हिन्दुस्तान समाजवादी गणतांत्रिक सेना' नामक नवीन क्रांतिकारी दल बना। इस दल के आज़ाद, भगतसिंह। विजय कुमार सिन्हा, राजगुरु, बटुकेश्वर दत्त, शिव वर्मा, जयदेव आदि सदस्यों ने काकोरी कांड के दण्ड प्राप्त कैदियों को मुक्त कराने का प्रयत्न किया। पहले ये लोग योगेशचन्द्र चटर्जी को जेल से छुड़ाने के लिये आगरा पहुंचे, किन्तु इस कार्य में इन लोगों को सफलता नहीं मिली। "बिस्मिल को भगतसिंह हर कीमत पर छुड़ाना चाहते थे। इसके लिये प्रयत्न किया गया, किन्तु सफलता नहीं मिली, क्योंकि बिस्मिल पर अत्यधिक कठोर पहरा था। बिस्मिल की जेल से लिखकर भेजी गई यह गज़ल निम्नलिखित है—

मिट गया जब मिटने वाला,
फिर सलाम आया तो क्या।
दल की बरबादी के बाद,
उनका पयाम आया तो क्या।।
आखरी शब दीद के
काबिल थी बिस्मिल की तड़प।
सुबह दम कोई अगर
बाला ए बाम आया तो क्या।।

वस्तुत: गजल की इन पंक्तियों में बिस्मिल ने अपने मित्रों को सन्देश भेजा था कि छुड़ाने के लिये जो कुछ करना हो, तुरन्त करो, अन्यथा निराश होना पड़ेगा। किन्तु जेल के अधिकारियों ने इसे एक सामान्य गजल समझा, वे इसका अर्थ नहीं जान सके, अत: उन्होंने इसे बाहर भेजने की आज्ञा दे दी। सभी प्रकार के मृत्यु दण्ड को बदलने के लिए की गई दया प्रार्थनाओं के अस्वीकृत हो जाने के बाद बिस्मिल अपने महाप्रयाण की प्रतीक्षा करने लगे। अपने जीवन के अन्तिम दिनों में गोरखपुर जेल में उन्होंने अपनी आत्मकथा लिखी।

अपने अन्तिम समय में फांसी के एक दिन पहले वह अपने पिता से अन्तिम बार मिले।

उसके साथ ही जब वह अपनी मां से मिले तो बच्चे की भांति रो पड़े। लेकिन उस मां ने एक वीरांगना की तरह पुत्र को उसके कर्त्तव्य का बोध कराते हुए ऊंचे स्वर में कहा—

मैं तो तुम्हें बहादुर बेटा समझती थी, जिसके नाम से अंग्रेज़ सरकार भी कांपती है। मुझे नहीं पता था कि वह मौत से डरता है। यदि तुम्हें रो कर ही मरना था, तो मेरी गोद में क्यों जन्मे।

तब बिस्मिल ने कहा, "ये मौत के डर के आंसू नहीं हैं, यह मां का स्नेह है मौत से मैं नहीं डरता। तुम्हारी ममता के उपकार से डरता हूं जीते जी वह ऋण मैं न चुका सका।" 19 दिसम्बर 1927 को प्रात: का नित्यकर्म करने के बाद उन्होंने अपनी मां को अन्तिम पत्र लिखा। नियत समय पर बुलाने वाले आ गए। 'बन्दे मातरम' तथा 'भारत माता की जय' का उदघोष करते हुए बिस्मिल उनके साथ चल पड़े और बड़े मनोयोग से गाने लगे।

मालिक तेरी रजा रहे और तू ही तू रहे।
बाकी न मैं रहूं न मेरी आरज़ू रहे।।
जब तक कि तन में जान रगों में लहू रहे।
तेरा ही जिक्र या तेरी ही जुस्तजू रहे।।

इतना कहते-कहते वह खुशी-खुशी फांसी के तख्ते पर झूल गए।

राष्ट्र के निर्माण में बिस्मिल सदृश क्रांतिकारियों के त्याग अक्षुण्ण हैं।

काकोरी कांड के बाकी अभियुक्तों को जिनमें राजेन्द्रनाथ लाहिड़ी को 17 दिसम्बर 1927 को गोंडा जिले में, अशफाक उल्ला को फैजाबाद जेल में 19 दिसम्बर 1927 को और रोशनसिंह को भी 19 दिसम्बर 1927 को इलाहाबाद जेल में फांसी दे दी गई।

देशवासियों से अन्तिम विनती करते हुए उन्होंने कहा कि जो कुछ करें, सब मिलकर करें और सब देश की भलाई के लिए करें। इसी से सब का भला होगा।

मरते बिस्मिल, रोशन, लहरी,
अशफाक अत्याचार से।
होंगे पैदा सैंकड़ों,
इनके रुधिर की धार से।।

जब वह मैनपुरी षड्यन्त्र के बाद पुन: क्रांतिकारी दल में सम्मिलित हुए, उस समय उनका व्यवसाय उन्नति पर था, किन्तु उन्होंने उसे त्यागकर क्रांतिपथ अपनाया तथा राष्ट्रप्रेम में प्राणों का बलिदान कर दिया।

इस प्रकार काकोरी कांड के इन वीरों को मिले मृत्यु दण्ड से भारतीय क्रांतिकारी आंदोलन के इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण अध्याय समाप्त हो गया। □

सन्दर्भ :

1. क्रांतिकारी रामप्रसाद बिस्मिल।
लेखक:—डॉ० ईश्वर प्रसाद वर्मा
प्रकाशक:—ओऽम प्रकाश शर्मा
हिन्दी पॉकेट बुक्स
ई—5/20, कृष्ण नगर
दिल्ली—11005।

2. भारत के महान अमर क्रांतिकारी रामप्रसाद बिस्मिल।
लेखक:—डॉ० भवाणसिह राणा
प्रकाशक:—भारतीय ग्रन्थ निकेतन
27/3 कूचा चेलान
दरियागंज, नई दिल्ली—110002

3. उत्तर-प्रदेश के अमर शहीदों की कहानियां।
लेखक:—कृपाकांत झा 'मठपति'
अमर शहीद ग्रंथमाला
प्रकाशक:—इतिहास शोध-संस्थान
33/1 भूल भुलैया रोड,
महरौली, नई दिल्ली—110030 □

क्रांति के पराक्रमी : नेता जी सुभाष चन्द्र बोस

□ गायत्री जोशी

विद्रोह दो तरह का होता है : सार्थक और रोमानी। सेना के किसी आपरेशन या पुलिस की किसी ज़रूरी कार्रवाई के प्रति सही रूख रखकर, वक्त पर पक्ष में बोलना क्या कहा जाएगा ? तब पक्षधरता का आरोप लगाए जाने की संभावना है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। आजकल 'विरोध के लिये विरोध' तथा आक्रोश भरा दिशाहीन विद्रोह ज्यादा ज़ोर पकड़ रहा है। व्यवस्था के सही निर्णयों और कदमों का समर्थन खतरे से खाली नहीं है। क्योंकि व्यवस्था के प्रति दिखाऊ विद्रोह रूमानी विद्रोह है, जो खोखला है और क्लबों, गोष्ठियों तथा यहां-वहां फिकरे कस देने पर हमें तथाकथित विद्रोहियों की पांत में बिठा देता है।

गांधी जी का सविनय अवज्ञा-आन्दोलन, सार्थक विद्रोह का प्रायोगिक किन्तु प्रामाणिक विद्रोह था। प्रसंगवश सयाने, तत्कालीन सत्ता के हिमायती लोग उसे 'अंग्रेज़ों की पिट्ठूगिरी' तक कहते थे।

सुभाष का आबिर्भाव भारतीय राजनीति की एक महत्वपूर्ण घटना है। उनका कर्म (Action), उनकी कार्यप्रणाली और विशेषता उनकी विद्रोही चेतना के लक्ष्य क्या थे, इस पर विचार करना प्रासंगिक है। (परिणाम का विवेचन कभी-कभी शास्त्रीय (Academic), अत: नीरस और व्यर्थ भी होता है।)

सुभाष के नाम के आगे से नेता या लोकप्रिय जैसा विशेषण [हटा भी दिया जाये, तो भी वे विशिष्ट प्रामाणिक, वज़नदार और प्रासंगिक बने रहते हैं। वे गांधी जी के प्रतिद्वन्द्वी ही नहीं, पूरक भी थे। साध्य की प्राप्ति के लिए साधन की ज्यादा पवित्रता पर उन्होंने ज़ोर नहीं दिया। उनका तूफानी व्यक्तित्व आकर्षक तो था ही, (उनका जादू अब भी भारतवासियों के सर पर चढ़कर बोलता है) एक ईमानदार और जुझारू राष्ट्रीय दायित्व-चेतना भी उनमें

तरंगायित थी । उस समय के दमन-चक्र के समानान्तर आज़ाद हिन्द फौज़ का गठन एक बहुत बड़े साहस और जोखिम का काम था ।

उनका पूरा जीवन एक 'हीरो' का उफानभरा, हर्ष-विमर्षयुक्त, जय पराजय से घिरा, प्रशंसा तथा दबी आलोचनाओं से मंडित असफल किन्तु सार्थक जीवन था । तब गांधी जी जैसे सर्वाधिक लोकप्रिय, एक छत्र नेता की मर्ज़ी के खिलाफ उनका कांग्रेस अध्यक्ष चुना जाना सिद्ध करता है कि कहीं न कहीं सुभाष के व्यक्तित्व में ऐसा कुछ था, जो आज तक किसी भारतीय नेता में नहीं पाया गया । उनके एक इंगित पर लोग आभूषणों से लेकर रक्तदान तक के लिए तत्पर, लालायित रहते थे ।

तत्कालीन क्रान्तिकारियों पर भी सुभाष के सशस्त्र, विद्रोही व्यक्तित्व का काफी प्रभाव था । भारत की आज़ादी को सुभाष के प्रयत्नों से पृथक करके देखने की कोई भी दृष्टि बेमानी है, अधूरी है ।

सुभाष का 'विद्रोह' रूमानी विद्रोह नहीं था । उच्च शासकीय पद ठुकरा कर राष्ट्रीय कांग्रेस में उनका प्रवेश कोई मामूली त्याग नहीं था । वे पराजय की लहरों पर आजीवन सवार रहे । यह संयोग कहिए या इतिहास का व्यंग्य कि, सुभाष की सशस्त्र क्रान्ति का स्वप्न साकार नहीं हुआ, अन्यथा भारत का स्वातन्त्र्योत्तर इतिहास, शासन-व्यवस्था और आज का वातावरण तथा उससे प्रभावित जन जीवन बिल्कुल भिन्न होते ।

क्या सुभाष उनके कर्म, चिन्तन और समग्र आचरण के सन्दर्भ में आज प्रासंगिक हैं ?

सुभाष के प्रति गलदश्रु भावुकता रखने वाले लाखों-लाख लोग आज भी कम नहीं हैं और अभी कुछ दशक पूर्व तक तो लोग उनके 'आकस्मिक अवतरण' की आशा-प्रतीक्षा में पलक-पांवड़े बिछाये रहते थे । भारतीय जनमानस की यह आतुरता, सुभाष की अद्‌भुत लोकप्रियता की परिचायक है । मरणोपरान्त भी उनके जीवित होने का यह भोला विश्वास सुभाष के प्रति, उनके देशभक्तिपूर्ण कार्यों के प्रति एक सामूहिक श्रद्धा और सम्मान का प्रतीक है ।

सुभाष के हाथों यदि देश की बागडोर आई होती, तो क्या वे सफल 'शासक' सिद्ध होते ? क्या वे अपने अर्जित विश्वास का उचित उपयोग करते और देश के मंगल के लिए योजना बद्ध रीति से जुट जाते ? या तब, जनतंत्र के लिए अपरिपक्व देश को सख्त रेजिमेन्टेशन की दिशा में ले जाते ? तब एक सफल विद्रोही एक सफल तानाशाह होता या कालान्तर में वह राजनीति से असम्पृक्त होकर देश की बागडोर आजाद हिन्द सेना के अपने किसी विश्वस्त कमांडर को सौंप देते ?

प्रश्न मन-मास्तिष्क को मथने वाले हैं । उन जैसा दृढ़ प्रतिज्ञ और दृढ़-संकल्पी व्यक्तित्व निश्चय ही ढुलमुल निर्णय की स्थिति में नहीं रहता । देश के विभाजन की दुखद घड़ी भी शायद न आई होती और प्रजातंत्र के नाम पर जो 'प्रयोग' आए दिन हो रहे हैं, वे नहीं होते ।

फिलहाल हम उस अघटित अतीत की सुन्दर या कुरूप कल्पना ही कर सकते हैं । सुभाष को गांधी या नेहरू की तरह एक सुस्पष्ट दर्शन की ज़रूरत तो पड़ती, क्योंकि उसके

अभाव में किसी भी नेता या शासक की 'नियति' सुरक्षित नहीं रह सकती। उसका अस्तित्व भी दर्शन के अभाव में प्रश्न चिन्ह बन सकता है, या फिर उसे उसके अनुगामी ही नेतृत्व के नेपथ्य में ले जा सकते हैं, किंवा उसे निरस्त कर सकते हैं।

यह देश का दुर्भाग्य ही था कि सुभाष आज़ादी के पूर्व ही अंतर्धान हो गए। फिर भी वे आज तक स्मरणीय हीं नहीं, प्रासंगिक भी हैं—इन आर्यों में कि भारत को उन जैसा दृढ़ संकल्पयुक्त लौह-नेतृत्व चाहिए, कि देशवासियों को धर्म, जाति, भाषा और प्रादेशिक संकीर्णता से ऊपर उठाकर एक महादेश की नागरिक चेतना का अवसर प्रदान करने वाला व्यक्तित्व चाहिए और इन सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण यह कि स्वार्थभरी, संकीर्णमना राजनीति के मनोविज्ञान को आमूल बदल कर, राष्ट्र को सर्वोपरि मानकर मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा की खातिर कुर्बानी देने वाली एक आत्म बलिदानी, जुझारू आधार भूमि चाहिए।

आज सुभाष का स्मरण हमें इसी चिन्तन के परिप्रेक्ष्य में कुरेदता है, कचोटता है। उन जैसे मेधावी, विद्रोही, योद्धा देशभक्त कभी अप्रासंगिक नहीं हो सकते। □

स्वतन्त्रता संघर्ष का अग्निपथ और
डा० राममनोहर लोहिया

□ संजय गुप्ता

क्रांति के महायज्ञ में वीरों की अनेक आहुतियों के बाद 15 अगस्त 1947 को भारत-वासियों ने देखा स्वतन्त्रता का दिव्य आलोकमय पहला सूरज जिसकी एक प्रखरतम रश्मियों में से एक थे डा० राममनोहर लोहिया।

बचपन से ही प्रखर प्रज्ञा, अद्भुत स्मरणीय शक्ति के धनी राममनोहर लोहिया का प्रिय विषय इतिहास था, पर भारतीय इतिहास का रूप उन्हें झूठा लगता था। क्योंकि लोहिया में राष्ट्र प्रेम की दृष्टि विकसित होती जा रही थी, इसलिये वह छात्रों के बीच ओजस्वी स्वर में भाषण करते थे।

1932 में नमक सत्याग्रह पर बर्लिन विश्वविद्यालय में डॉक्टरेट की उपाधि लेकर डॉ० लोहिया भारत लौटे।

डॉ० लोहिया के मन में भारत का, विश्व का, एक सपना था। भारतीय संस्कृति से गहरे जुड़ कर भी वे स्वतन्त्र और आधुनिक विचार रखते थे। सिद्धांतों के खिलाफ समझौता उन्हें कभी स्वीकार्य नहीं था। इसी कारण डॉ० लोहिया ने जोकि पराधीन भारत की धरती पर जन्मे थे बचपन से ही अपने तेवर दिखाना शुरू कर दिये थे। केवल दस वर्ष की छोटी सी आयु में ही वह हड़तालों, जुलूसों और स्वतन्त्रता आंदोलनों में भाग लेने लगे। 1920 में जब गांधी जी की पुकार पर जब सारा देश उमड़ पड़ा था तो बालक राममनोहर लोहिया भी स्वतन्त्रता के संघर्ष के अग्नि पथ पर निकल पड़े। लोहिया ने आंदोलन की राह पकड़ी, बिजली के तार काट डाले। इसी दौरान उनकी नेहरू और गांधी से भेंट हुई।

वे 1924 में गया कांग्रेस अधिवेशन में प्रतिनिधि के रूप में सम्मिलित हुए। वाराणसी में वह खद्दर पहनने लगे थे। 1926 में वह अपने पिता हीरालाल जी के साथ गौहाटी कांग्रेस अधिवेशन में सम्मिलित हुए। 16 वर्ष की स्वल्प आयु में ही वह पंजाब के प्रतिनिधि चुन लिये गये।

सन् 1928 में कलकत्ता में कांग्रेस अधिवेशन हुआ। मोतीलाल नेहरू सभाध्यक्ष थे। लोहिया ने अधिवेशन के प्रबंध में काफी सक्रियता दिखाई। वहीं पर उनका पं० जवाहरलाल नेहरू जी से मिलना हुआ। नेहरू जी के प्रति उनमें इतनी निष्ठा और अच्छे भाव थे कि वह उन्हें नवयुवक सम्राट कहते थे। अब वह अखिल भारतीय विद्यार्थी संगठन के प्रमुख कार्यकर्ता भी बन गये थे और राजनीति में सक्रिय भाग लेना प्रारम्भ कर दिया था।

1928 में ही साईमन कमीशन भारत आया। सारे देश में जब इसका विरोध हुआ तो लोहिया भी पीछे न रहे। उनके नेतृत्व में कलकत्ता के छात्रों ने भी इसका विरोध किया। गुप्त सभाएं हुईं, कमीशन का बहिष्कार किया गया। इसके उपरांत लोहिया विदेश चले गए।

1934 में कांग्रेस संगठन में ही कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी का जन्म हुआ। डा० लोहिया को साप्ताहिक मुखपत्र का सम्पादक बना दिया गया। अपने जीवन से संघर्ष करते-करते उन्होंने देश में भी निरन्तर बदलाव देखे। गांधी जी जेल में थे, राजनीति में ठहराव था। 1934 में मई के महीने में कांग्रेस महासमिति की बैठक हुई। यहां दो विचारधाराएं प्रकट थीं। गांधी जी कांग्रेस से अलग होकर ग्राम सुधार की ओर लग गये थे। इसी उथल-पुथल में 17 मई 1934 को देश के सभी समाजवादियों की आचार्य नरेन्द्रदेव की अध्यक्षता में एक बैठक हुई। लोहिया ने समाजवादी आंदोलन की रूपरेखा प्रस्तुत की और स्पष्ट बयान दिया कि विधान सभाओं में प्रवेश से स्वाधीनता आंदोलनों को कोई बल नहीं मिल सकेगा। लोहिया और अन्य समाजवादियों के कहने पर ही दो प्रस्ताव पारित हुए। सिविल नाफरमानी का स्थगन, चुनाव लड़ना और कौंसिल में प्रवेश पाना।

1934 में ही 21-22 अक्तूबर को बम्बई में समस्त भारत के लगभग 150 से भी अधिक समाजवादियों की सभा हुई और कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की स्थापना हुई। लोहिया राष्ट्रीय कार्यकारिणी के सदस्य चुने गये।

लोहिया जी का समाजवाद के साथ मतभेद होने पर भी जयप्रकाश नारायण उनके हिमायती थे। 1936 में वे कांग्रेस पार्टी और संगठन में आ गए। पं० जवाहर लाल नेहरू की अध्यक्षता में 1935 में लखनऊ कांग्रेस अधिवेशन में कांग्रेस समिति के अन्तर्गत एक पर राष्ट्र विभाग खोलने का निर्णय लिया गया। लोहिया को इस विभाग का मन्त्री बनाया गया। इसके लिए लोहिया को इलाहाबाद आना पड़ा। 1938 में लाहौर के पार्टी सम्मेलन में उपर्युक्त पदों पर अपने सदस्यों की नियुक्ति के लिए कम्युनिस्टों ने काफी प्रयास किया, पर लोहिया के कारण उनकी यह चाल कामयाब नहीं हो पाई। लोहिया बहुमत से पुन: कार्य-कारिणी के सदस्य चुन लिये गये। 1936 से लेकर 1938 तक लोहिया कांग्रेस के परराष्ट्र विभाग के मन्त्री रहे। वह एक गम्भीर विचारक, प्रबुद्ध नेता और दूरदर्शी राजनीतिक के रूप में जाने-जाने लगे।

1936 में फैजपुर कांग्रेस अधिवेशन में लोहिया ने अपने विभाग की रपट प्रस्तुत की। इस सम्मेलन में पुन: लोहिया को मन्त्री बनाया गया।

11 मई 1940 को सुलतानपुर के दोस्तपुर में बड़े जोश-खरोश में जिला राजनीतिक सम्मेलन चल रहा था। जिसमें तीस वर्ष के प्रभावशाली नेता नवयुवक, अध्यक्ष राममनोहर लोहिया ने ओजपूर्ण भाषण दिया..।

7 जून 1940 को स्वराज भवन इलाहाबाद में लोहिया की दूसरी गिरफ्तारी हुई। उनको 11 मई के भाषण के लिए अपराधी माना गया। उन्हें सुलतानपुर लाकर एक अंधेरे कक्ष में रखा गया। कोतवाली से कचहरी तक के तीन मील के रास्ते से उन्हें पैदल लाया गया। उन्हें जबरदस्ती हथकड़ी डाली गई थी। उन्होंने अपनी पैरवी खुद की और कहा कि "शस्त्रों पर निर्भर रहने वाले अपने मन पर विश्वास नहीं करते वे शस्त्रों के गुलाम होते हैं। मैं ब्रिटेन का विनाश नहीं चाहता, पर हमारे प्रति और विश्व के प्रति उनका व्यवहार अधम है।

1 जुलाई 1940 को भारत सुरक्षा कानून की धारा 38 के अनुसार उन्हें दो वर्ष की सख्त कैद दी गई। 12 अगस्त को लोहिया को बरेली कारागार में भेज दिया गया। लोहिया की गिरफ्तारी से लोग बहुत ही क्षुब्ध और दु:खी थे। बरेली जेल में लोहिया के प्रति अमानुषिक व्यवहार किये गये। क्रमश: उन्होंने देहरादून जेल में भी अनेक यातनाएं सहीं।

डा० लोहिया के सभी बयान मजबूत होते। इसी कारण गांधी जी ने भी एक लेख में स्पष्ट रूप से लिखा था कि बाकी कांग्रेसियों की तुलना में लोहिया उन्हें अधिक प्रिय थे। यहां तक की वह लोहिया को अपने नजदीकी ही समझते थे। गांधी जी ने यह भी लिखा था कि लोहिया की गिरफ्तारी हिन्दुस्तान को बांधने वाली जंजीर को कमजोर बनाने वाले हथौड़े के प्रहार है।

1941 के अन्तिम दिनों के अंग्रेजों की हालत खराब हो गई थी। भारत के तमाम नेता जेलों में थे। गांधी जी नेताओं की रिहाई का सख्त प्रयास कर रहे थे। बम्बई में गांधी जी ने यहां तक कहा था कि जब तक लोहिया जेल में है मैं चुप नहीं बैठ सकता। जब जापान, चीन और अमेरिका का दबाव भी ब्रिटेन पर पड़ा तो चौतरफा दबाव के कारण अंग्रेज कुछ नरम हुए और एकाएक 4 दिसम्बर 1941 को डा० लोहिया तथा देश की तमाम जेलों में बन्द नेताओं को भी छोड़ दिया गया।

9 अगस्त 1942 से 20 अगस्त 194 तक लोहिया कभी चैन से नहीं बैठे। फरारी जीवन, न कही भोजन का निवाला न रहने का ठिकाना, आज यहां तो कल बहां। किसी से भी सम्पर्क में आशंका। इधर सरकार का दमनचक्र। आंदोलन विखर सा गया। पुलिस को लोहिया का सुराग मिला और लोहिया को भी इसका पता लग गया। वेश बदल कर बम्बई पहुंच गए। बम्बई में पुलिस भी सक्रिय हो उठी थी।

20 मई 1944 को बाबुलनाथ रोड वाले भवन को पुलिस दल ने चारों ओर से घेर लिया और यहां छुपे राममनोहर को अब तीसरी बार बन्दी बनाया गया। ब्रिटिश हुकूमत

को भारी राहत मिली। लोहिया को बन्द गाड़ी में लाहौर ले जाया गया। यह जेल बहुत ही भीषण यंत्रणा के लिए प्रसिद्ध थी। सरदार भगतसिंह भी यहीं कैद थे बस काली कोठरी की दीवारें न आदमी द आनमी का चिन्ह। असह्य यातनाएं धीरे-धीरे आदत में बदल गई। लोहिया उन पर विजय पाते गए। पांच-छः महीने तक लोहिया जी का बाहर की दुनिया से कोई सम्बन्ध नहीं था। लोगों को भी उनके बारे में कुछ पता नहीं था। इसी जेल में जयप्रकाश नारायण भी थे।

1944में डा. लोहिया ने बन्दीकाल में हाबियस कारपस को दरखास्त लिखी 1945 में जनवरी को उसमें उन्होंने ब्यौरा भी जोड़ लिया। विवश होकर हाईकोर्ट को सुनवाई करनी पड़ी। सुनवाई गोपयीय रखी गई। इस बीच लोहिया और जयप्रकाश को आगरा जेल भेज दिया गया। ये दोनों अपने विश्वासों व सिद्धांतों से थोड़ा भी विमुख हो जाते तो कब के रिहा हो गए होते। लेकिन उन्होंने कभी भी ऐसा नहीं किया।

1945 में महायुद्ध जब समाप्त हुआ तो विश्व की महान् शक्ति ब्रिटेन मामूली दर्जे का देश बन गया। 1944 के अन्त में गांधी जी जेल से छूटे। 1945 के अन्त तक सभी कांग्रेसी नेता, कार्यकर्ता भी छूट गये। परन्तु सरकार ने लोहिया और जयप्रकाश जैसे बंदियों को नहीं छोड़ा था जिन पर हत्या, डकैती, देशद्रोह आदि का आरोप था। 1946 तक इंग्लैंड में लेबर सरकार गठित हो गई थी। भारत में लोहिया को छोड़ने की मांग ज़ोर पकड़ती जा रही थी। गांधी और जनता दोनों ही रिहाई के लिये अड़ गये थे।

11 अप्रैल 1946 को आखिर लोहिया और जयप्रकाश को मुक्ति मिली। लोहिया की शक्ल देखने को जनता बेचैन थी। सायंकाल 7 बजे जेल का फाटक खुला और कुछ सामान के साथ खादी का कुर्ता-धोती पहने लोहिया-जयप्रकाश बाहर आए।

दर्शनों से गद्गद हुई जनता की भीड़ जुलूस में परिवर्तित हो गई। उसी रात लोहिया गाड़ी से कलकत्ता रवाना हुए। लोहिया ने कैबिनेट मिशन के खिलाफ घूम-घूम कर प्रचार किया और उन की कमियों पर प्रकाश डाला। 24 अप्रैल को कलकत्ते में छात्रों की एक बड़ी सभा में उन्होंने कहा, "जनता की ताकत देखकर ही कैबिनेट मिशन भारत आया है। लोगों को अपना मन गम्भीर बनाये रख कर जब तक जरूरी हो स्वतन्त्रता का आंदोलन चलाते रहने की हिम्मत बनाये रखनी चाहिए।"

जेल की निरन्तर यातना, राजनीतिक सौदेबाजी, और दौड़-धूप से लोहिया का स्वास्थ्य बिगड़ गया और डाक्टरों ने उन्हें विश्राम की सलाह दी। लोहिया के एक मित्र जूलियो मैनेजिस उन दिनों गोवा रहते थे, उन्होंने लोहिया को अपने पास बुलाया। 10 जून 1946 लोहिया गोवा पहुंचे। सारे गोवावासी उन्हें 1942 का नायक कहते थे। गोवा पर उस समय पुर्तगालियों का शासन चल रहा था। यहां गोवा को मुक्ति दिलाने के लिए वह कुछ लोगों से मिले। एक घंटे तक लोहिया बोले और 17 जून को एक विशेष बैठक बुलाई। जिसमें 18 जून से आंदोलन प्रारम्भ करने का फैसला किया गया था। गोवा का गवर्नर घबरा उठा। कुछ लोगों ने छः महीने तक लड़ाई स्थगित करने का फैसला किया। पर लोहिया जी ने लोगों को फटकार सुनाते हुए कहा कि अब तो हम लड़ाई शुरू करेंगे।

जनता बड़ी बेसब्री से उन का रास्ता देख रही थी। कमांडर ने लोहिया को भीड़ का कारण माना और सोचा कि लोहिया को गोवा की सीमा से बाहर कर दिया जाये। और उन्हें कोमेल स्टेशन ले जाया गया। जनता को खबर लगी तो थाने पर हल्ला बोल दिया। 21 जून को लोहिया चौक पर विशाल सभा हुई। सरकार झुकी और गवर्नर ने यह आदेश दिया कि आम सभा या भाषण के लिए सरकारी आदेश की कोई जरूरत नहीं। गोवा की जनता की यह पहली जीत थी। गोवा की सीमा के बाहर बम्बई की राह पर लोहिया को छोड़ दिया गया। लोहिया ने पुर्तगीज सरकार को चुनौती दी कि तीन महीने के अन्दर अगर गोवा में नागरिक स्वतन्त्रता नहीं मिली तो वह फिर गोवा आएंगे। लोहिया बम्बई पहुचे। तीन महीने बाद लोहिया को पुन: गोवा जाना था। गोवा के लिए 30 जून को भी लोहिया ने चौपाटी की सभा में भाषण दिया।

6 जुलाई को कांग्रेस कमेटी की सभा के पूर्व नेहरू जी ने जयप्रकाश एवं लोहिया को भेंट करने के लिये बुलाया और लोहिया को कांग्रेस का सेक्रेटरी बनने का निवेदन किया। लोहिया ने तीन शर्तें रखीं और जिम्मेवारी सम्भाल ली। वह कांग्रेस को स्वच्छ और आदर्श रूप देना चाहते थे। नेहरू उनके विचारों से सहमत न थे। गोवा सम्बन्धी लोहिया के कार्यों पर नेहरू जी ने और पटेल तथा जयप्रकाश ने भी उनको समर्थन न दिया। केवल गांधी जी ही साथ में थे।

21 सितम्बर 1946 को लोहिया गांधी जी से मिले और गोवा के बारे में लम्बी बातचीत की। गोवा सरकार को इसकी खबर मिल गई और वह सतर्क हो गई। कई सभाएं करते हुए लोहिया 29 सितम्बर को बेलगांव गए फिर वहां से वह मड़गांव गोवा सरकार ने कोलेम स्टेशन पर उन्हें गिरफ्तार कर लिया और अगवाद के किले में बन्द कर दिया। उन्हें 8 अक्तूबर को रिहा करके भारतीय सीमा पर छोड़ दिया गया।

लोहिया की गिरफ्तारी और रिहाई से गोवा में पुन: आंदोलनों की रफ्तार तेज हो गई। गोवा सरकार ने गोवा में आने के लिये लोहिया पर पांच वर्ष का प्रतिबन्ध लगा दिया। लोहिया ने गोवा की सीमा के सामन्तवाड़ी कोल्हापुर का खान आदि स्थानों का दौरा किया और धन जुटाया। सत्याग्रही तैयार किये। लोहिया बेलगांव लौट गये। सत्याग्रह का प्रयास जारी रहा। गांधी जी ने उन्हें कलकत्ता बुलाया। गांधी जी चाहते थे कि गोवावासी अपनी लड़ाई स्वयं लड़ें।

जनवरी 1947 के प्रारम्भ में लोहिया पुन: बम्बई गये। वहां पर सभाएं कीं। धन जुटाया और आंदोलन की तैयारियां शुरू कर दीं। लोहिया की अध्यक्षता में नौ साल के बाद 26 से 28 फरबरी 1947 तक सोशलिस्ट पार्टी का कानपुर में सम्मेलन हुआ। फरवरी 1947 में ही ब्रिटिश प्रधान मन्त्री ने जून 1947 तक भारत छोड़ देने की घोषणा कर दी। लार्ड माउन्टबेटन भारत के वायसराय होकर भारत आये और साथ में ही भारत विभाजन की योजना भी लाए। लोहिया जी ने विभाजन का मुखर विरोध किया और स्पष्ट कहा, "प्रस्ताव में दो राष्ट्रों के सिद्धांत को स्पष्टतः अस्वीकारा जाना चाहिए। आखिर दुर्भाग्य से यह योजना सफल हो गई।

गांधी और लोहिया की अपार कोशिश के बाद भी देश विभाजन की महान त्रासदी सामने आई।

8 अगस्त को भारत छोड़ो प्रस्ताव पूर्ण बहुमत से स्वीकार हुआ। बहस पर कुछ नेता यथार्थ से परे जाना चाहते थे। डा० लोहिया ने बुलन्द आवाज में कहा, "ब्रिटिश राज्य अब वैसा अजेय नहीं है जैसा अब तक माना जाता रहा है। गांधी जी ने इस अवसर पर "करो या मरो" का नारा दिया। इससे समस्त भारत के लोगों में क्रांति की ज्वाला भड़क गई। गांधी जी का एक-एक शब्द लोहिया के मन-मस्तिष्क पर वेदमन्त्र की तरह अंकित हो गया था। उन्हें लगा अब इतिहास बदलने का समय आ गया है।

9 अगस्त को गांधी जी को गिरफ्तार कर लिया गया। अन्य बड़े नेता भी बन्दी बना लिए गए। लोहिया जी ने अपने आप को किसी तरह इस सामूहिक गिरफ्तारी से बचा लिया। अंग्रेज हुकूमत की इस चुनौती को सारे भारत ने स्वीकार कर लिया। नेताओं की गिरफ्तारी से सारे देश में आग की ज्वाला भड़क उठी थी। दमनचक्र पूरे जोरों पर था। 1947 में ही लोहिया कलकत्ता गये। यहां नेपाल के कुछ लोगों ने उन्हें नेपालियों का नेतृत्व करने के लिये कहा। लोहिया ने उन्हें नेपाली राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना की प्रेरणा दी। 14 अगस्त की सायंकाल को कलकत्ते के श्रद्धानन्द पार्क में भारी सभा का आयोजन हुआ। सभा के बाद एक विशाल जुलूस निकाला गया। लोहिया के नेतृत्व में सारी रात जुलूस शहर में घूमता रहा। हर क्षेत्र में जुलूस घूमा। एकता के नारे लगाये गये। लोगों पर अच्छा प्रभाव पड़ा और 15 अगस्त को शांति का वातावरण हो गया।

15 अगस्त को आजादी का दिन सारे कलकत्ते में धूमधाम से मनाया गया। लोगों का मुहल्लों में आना-जाना शुरू हो गया। अमन और शांति का वातावरण बनने लगा।

आज़ादी के उपरांत भी। डॉ० राममनोहर लोहिया ने आजीवन भारत की एकता, अखण्डता और तरक्की के लिए जो योगदान दिया वह अमूल्य है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भी 11 वर्ष तक उस वीर सेनानी ने भारत मां की सेवा की और 1967 में भारतीय राजनीति को गहरा शून्य देकर वे स्मृति शेष हो गए।

इस मुक्ति पर्व पर उन की स्मृति शेष को प्रणाम।

सन्दर्भ—

1. डॉ० राममनोहर लोहिया।
   लेखक—डॉ० दशरथ द्विवेदी
   सम्पादक—गोरी दयाल गुप्त (बच्चा)
   प्रकाशक—प्रकाश चन्द शर्मा
   हिन्दी पॉकेट बुक्स
   ई-5/207 कृष्णनगर
   दिल्ली--110051

2. स्वतन्त्रता आंदोलन का इतिहास ।
लेखक—डॉ० मसूद अहमद खां
प्रकाशक—किताब घर, शीलतारा हाउस,
24/4866, अंसारी रोड
दरियागंज, नई दिल्ली—110002

3. लोहिया एक चिन्तन ।
लेखक—मधु लिमये
प्रकाशक—राजपाल एण्ड सन्ज़ दिल्ली

4. संत रैदास के निर्गुण सम्प्रदाय ।
लेखक—डॉ० धर्मवीर—आई० ए० एस०
प्रकाशक—शेष प्रकाशन, नई दिल्ली । □

आग्रह !

वार्षिक सदस्यता शुल्क निम्न पते पर 10 रु० डिमाण्ड ड्राफ्ट/धनादेश/पोस्टल आर्डर से भेज कर समय भी बचाएं : असुविधा भी ।

पता :

एडीशनल सेक्रेटरी शीराज़ा हिन्दी, जे० एड के० अकादमी ऑफ आर्ट कल्चर एंड लेंग्वेजिज़, जम्मू-180001 ।

OO

प्रकाशित कृति को समीक्षार्थ भेजते समय कृपया दो प्रतियां भेजना न भूलें ।

—सं०

स्वाधीनता का महायज्ञ और महिलाएं

□ डा० एस० इन्दिरा

भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम में जहां पुरुष क्रान्तिकारियों की महत्वपूर्ण भूमिका रही, वहीं क्रान्तिकारी महिलाओं ने भी अनेक यातनाएं सहते हुए वीरता, साहस, और त्याग से एक गौरवपूर्ण इतिहास बनाने में उल्लेखनीय योगदान दिया। प्राचीन-काल से ही भारत में वीरांगनाओं की महान् परम्परा रही है। नारी के क्रान्ति-चरित्र और उसके साहस, वीरता की दृष्टि से विचार करें तो यह परम्परा की धारा सृष्टि के आदिकाल से आज तक अविरल रूप से प्रवाहित होती चली आ रही है। पौराणिक युग में देवासुर-संग्राम के समय राक्षसों को परास्त करने हेतु नारियों ने अपना साहसपूर्ण सहयोग दिया और समय-समय पर दुर्गा, काली, महाकाली, का उग्र रूप धारण करके असुरों का वध करके देवताओं को उनसे मुक्ति दिलायी थी। आदिनारी का यह महान् क्रान्तिकारी रूप ही उसे मानवता के इतिहास में देवताओं से श्रेष्ठतर माँ दुर्गा, महाशक्ति और महाकाली के रूप में प्रतिष्ठित कर गया। महादेव शिव तक महाकाली की उपासना करते थे। त्रेतायुग में युद्ध में कैकेयी ने महाराजा दशरथ को विजयी बनाया था तो द्वापर-युग में सत्यभामा ने श्री कृष्ण को नरकासुर के संहार में सफलता दिलवाई थी। तब से लेकर आज तक नारी के इस शक्तिरूप की पूजा-अर्चना होती आई उसके इसी क्रान्ति-चरित्र के कारण ही वह शान्ति काल में ममतामय वह आपद्काल में रक्षिका और संहारिका सिद्ध हुई है।

स्वाधीनता-संग्राम सन् 1857 में शुरू हुआ था, जिसे इतिहास में प्रथम क्रान्ति के नाम से जाना जाता है। 1857 की लड़ाई में रानी लक्ष्मीबाई और बेगम हज़रत महल के अलावा गाँवों की सामान्य महिलाओं ने भी वीरता पूर्वक लड़ाई जारी रखी थी। स्वतन्त्रता-

संग्राम के समय नर्तकी अज़ीज़न ने गुप्तचारिका के रूप में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी थी। वे अंग्रेजों की सेना में प्रवेश कर अनेक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज और सूचनाएं गुप्तरूप से क्रान्तिकारियों तक पहुंचाया करती थी।

बेगम हज़रत महल —

10 मई 1857, स्वतंत्रता-क्रान्ति के इतिहास में अत्यन्त महत्वपूर्ण दिवस था। स्वतंत्रता की जो आग मेरठ में भड़की थी, बहुत शीघ्रता से उसने दावानल का रूप धारण कर लिया। एक ओर जहाँ मेरठ में महिलाओं ने सिपाहियों और देशवासियों में क्रान्ति की चिनगारी फूंकी, वहीं दूसरी ओर लखनऊ में बेगम हज़रत महल ने क्रान्तिकारियों का नेतृत्व किया। सन् 1856 में जब अवध की सत्ता अंग्रेजों के हाथों में चली गयी तो नवाब वाजिद अली शाह लखनऊ छोड़कर कलकत्ता में जा बसे, परन्तु उनकी बेगम हज़रत महल ने लखनऊ में रहना पसन्द किया। 30 मई 1857 को लखनऊ में क्रान्ति का श्री गणेश हुआ तो बेगम ने शासन की बागडोर अपने हाथों में ले ली और राज्य का बड़ी चतुराई से कुशल राजनीतिज्ञ की भांति नेतृत्व किया। उन्होंने बहादुर सिपाहियों को वीरता के लिए पुरस्कार से सम्मानित किया। बेगम हज़रत महल के सम्बन्ध में 'रसल' का अभिमत था—"उसने सारे अवध में एक आग भड़का दी थी।"

झांसी की रानी लक्ष्मीबाई—

क्रान्तिकारी वीरांगनाओं में झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई का स्थान अग्रगण्य है। मार्च 1858 में झाँसी में अंग्रेज सेनापति ह्यूरोज़ और महारानी लक्ष्मीबाई के बीच घमासान युद्ध हुआ। महारानी ने बड़ी वीरता और साहस के साथ शत्रु सेना का मुकाबला किया। तांत्या टोपे भी रानी की सहायता के लिए अपनी सेना के साथ वहाँ पहुंच गये थे, परन्तु दुर्भाग्य से वे पराजित हो गये। इसके बावजूद लक्ष्मीबाई ने अपनी हिम्मत नहीं हारी और पूरे साहस के साथ उठ खड़े होकर अंग्रेजों का डट कर मुकाबला किया। 12 दिनों तक घमासान युद्ध हुआ, परन्तु अन्त में अंग्रेजों की विजयी हुई। रानी लक्ष्मीबाई की परम सहेली झलकारी बाई ने अंग्रेज़ों की फौज से लड़ती हुई रानी लक्ष्मीबाई की जान बचायी थी। लड़ते हुए अन्त में उसने वीरगति पायी। इसी तरह अनेक वीरगनाओं ने अपनी जान पर खेल कर रानी को बचाया था। झलकारी बाई को अंग्रेज़ी फौज ने रानी लक्ष्मीबाई समझकर उस पर पूरी शक्ति के साथ हमला कर दिया था, क्योंकि झलकारी बाई, लक्ष्मीबाई से बिल्कुल मिलती-झुलती थी। इसके बाद महारानी लक्ष्मीबाई और तांत्या टोपे की अंग्रेज़ी सेना के साथ कालपी और ग्वालियर में मुठभेड़ हुई। महारानी लक्ष्मीबाई लड़ते-लड़ते ही ग्वालियर में 17 जून 1858 को वीरगति को प्राप्त हो गयी।

ननीबाला देवी (सन् 1888)

बंगाल की भूली बिसरी क्रान्तिकारी महिलाओं में ननीबालादेवी की गाथा अति रोमांचक है। हावड़ा में सन् 1888 में जन्मी ननीबाला देवी 1916 में विधवा हो गई। उन्होंने विप्लवी अमरेन्द्रनाथ चटर्जी से दीक्षा ली और क्रान्तिकारी दल की गतिविधियों में सक्रिय हो गई।

क्रान्ति के प्रथम दौर में क्रान्तिकारियों के लिए आश्रय-स्थल जुटाने, फण्ड एकत्र करने, गुप्त दस्तावेज इधर से उधर पहुंचाने, युवक-युवतियों को प्रशिक्षित करने आदि सभी कार्यों में ननीबालादेवी ने महत्त्वपूर्ण कार्य किये, पर पुलिस की पकड़ में नहीं आई। भूमिगत रहकर काम करने के कारण पुलिस को इसकी सूचना देने वाले के लिए पुरस्कार की घोषणा करनी पड़ी थी।

ननीबाला देवी ने देश की खातिर महान त्याग किया, अपमान झेला, और कष्ट सहा, ननीबाला देवी की तरह ही बंगाल की दुकड़ी बाला देवी, और क्षीरोदासुन्दरी चौधरी के नाम भी उल्लेखनीय हैं।

प्रीतिलता वाद्देदार—

बंगाल के अग्रणी क्रान्तिकारी नेता सूर्यसेन के दल की एक बहादुर सदस्या कुमारी प्रीतिलता वादेदार भारत की पहली क्रान्तिकारी महिला एक बलिदानी प्रमाण है। अपनी छोटी-सी उम्र में उसने शौर्य और बलिदान का अद्भुत् प्रमाण दिया था। वे झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई के जीवन से प्रेरणा लेकर स्वतंत्रता-संग्राम में कूद पड़ी और संयोग की बात है कि प्रीतिलता की मृत्यु लक्ष्मीबाई की तरह ही हुई।

चटगाँव शस्त्रागार काण्ड से प्रीतिलता का गहरा सम्बन्ध रहा है। नायक सूर्यसेन के छापामार दल की प्रीतिलता नेता थीं। इनके नेतृत्व में अंग्रेज़ सेना से ज़बरदस्त मुठभेड़ हुई थी। मोर्चे पर भेजते समय सूर्यसेन ने प्रीतिलता को आदेश दिया था—"देखो बहन! गिरफ्तार होकर पुलिस द्वारा अपमानित होने की अपेक्षा मर जाना कहीं अच्छा है। यदि संघर्ष से बचकर आने का अवसर न मिले तो विषपान कर वहीं शहीद हो जाना।" एक दिन रात क्लब में जहां अंग्रेज स्त्री-पुरुष शराब पीकर रागरंग में मस्त थे, तब प्रीतिलता ने अपने साथियों के साथ क्लब पर धावा बोल दिया और सब को मौत के घाट उतार दिया। बाद में पुलिस द्वारा पीछा करने पर अपने को असहाय पाकर अपने नेता के आदेश का पालन किया। विषपान करके शहीद हो गयीं। प्रीतिलता विश्वविद्यालय की स्नातिका थीं। उन्हें बी० ए० पास किया था। कुमारी प्रीतिलता की आयु 'एक्शन' के समय केवल इक्कीस वर्ष की थीं। फूल सी नाजुक उम्र की एक लड़की! जब उसके खेलने-खाने के दिन थे, उन्होंने अपने सुकुमार यौवन को देश के लिये बलिवेदी पर चढ़ा दिया। जब उनके हाथों-पैरों में मेंहदी लगानी जानी थीं, तब उनके हाथों ने पिस्तौल थामी और पैरों ने कांटों की राह अपनाई।"

नव युवती प्रीतिलता का बलिदान निश्चय ही क्रान्तिकारी आन्दोलन के इतिहास का एक रोमांचक और गौरवशाली स्वर्णिम पृष्ठ है।

शान्तिघोष और सुनीति चौधरी :—

24 दिसम्बर 1931 की एक रोमांचकारी घटना ने चारों ओर तहलका मचा दिया। पहले से चौकन्नी फिरंगी सरकार को झिझोड़ कर पूरे देश का ध्यान आकर्षित करने वाली इस घटना की नायिकाएँ थीं—पन्द्रह और साढ़े पन्द्रह साल की दो स्कूली लड़कियाँ-शान्ति घोष और सुनीति चौधरी जिन्होंने बड़ी दिलेरी के साथ जिला मजिस्ट्रेट स्टीवेंस को गोलियों से भून दिया और सहर्ष अपने आपको गिरफ्तार करवा दिया था। ये दोनों लड़कियों ने 'दीपाली संघ' में शस्त्र-चालन का प्रशिक्षण लिया था और क्रान्तिकारियों का साथ देने की शपथ ली थी। फिर साथ मिलकर ही वह साहसिक कार्य कर दिखलाया, जिसने बंगाल में क्रान्ति की ज्वाला को और भड़का दिया। इन दोनों बालिकाओं को आजन्म काला पानी की सज़ा दी गई।

वीनादास—

6 फरवरी 1932 का वह एक ऐतिहासिक दिवस था। कलकत्ता विश्व-विद्यालय की स्नातिका कुमारी वीनादास ने अपने कॉलेज के दीक्षान्त समारोह में मुख्यातिथि गवर्नर स्टैनले जैक्सन पर गोलियाँ चलाकर सारे देश में तहलका मचा दिया था। निशाना ज़रा-सा चूक जाने से वह बच गया था। वीनादास घटना स्थल पर गिरफ्तार कर ली गई। उस पर मुकद्दमा चलाया गया। अदालत के अपने सामने तीन पृष्ठ लम्बे लिखित बयान में वीना ने जो कुछ कहा। वह एक ऐतिहासक रिकार्ड बन गया—"मातृभूमि के प्रति अपने प्रेम से प्रेरित होकर ही मैंने गर्वनर पर गोली चलाई है। विदेशी सरकार के अत्याचारों से कराहते हुए भारत में जीवन क्या जीने योग्य है? इसके बदले अपना बलिदान करके विरोध प्रकट करना क्या अच्छा नहीं है? मुकद्दमा एक दिन में, एक बैठक में निपटा दिया गया। वीणा को नौ वर्ष के कठोर कारावास का दण्ड सुनाया गया जिसे वीना ने सहर्ष स्वीकार कर लिया।

कैप्टेन डॉ० लक्ष्मी सहगल —

कैप्टेन डॉ० लक्ष्मी सहगल ने नेता जी के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर राष्ट्रीय मुक्ति संग्राम में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी थी। लाहौर षड़यंत्र केस और चटगाँव शस्त्रागार केस आदि में अन्य क्रान्तिकारियों के साथ डॉ० लक्ष्मी सहगल ने सक्रिय रूप से भाग लिया था। रानी झाँसी रेजीमेंट ने न केवल आज़ाद हिन्द फौज के साथ भाग लिया, अपितु युद्ध में घायल सिपाहियों की में भी महत्त्वपूर्ण सेवा की थी। इस रेजीमेंट ने सास्कृतिक कार्यक्रमों के द्वारा 'नेता जी फण्ड' के लिए भी धन इकट्ठा किया था। 'रानी झाँसी रेजीमेंट' की अनुशासन बद्धता एवं अपूर्व देश-भक्ति को देखकर अनेक विदेशी युवतियाँ सेना में भर्ती हो गयी थीं, जैसे पेनांग 'इपोह' और क्वालालम्पुर आदि देशों की युवतियाँ बाद में आगे चल कर रेजीमेंट की अफसर बन गयीं। रगून, मलाया आदि देशों में भी 'रानी झाँसी रेजीमेंट' की शाखाएं स्थापित की गयी थीं।

सुभाष चन्द्र बोस को सशस्त्र क्रान्ति की प्रेरणा सन् 1857 की क्रान्ति से मिली थी। वे चाहते थे कि सशस्त्र क्रान्ति में महिलाओं का भी सक्रिय सहयोग लिया जाए। 1857 में

रानी लक्ष्मी बाई आदि वीरांगनाओं ने जिस साहस-वीरता से अंग्रेजों के विरुद्ध लड़ी थीं, उसी प्रकार वीरांगणाओं की एक प्रशिक्षित सेना 'रानी लक्ष्मी बाई' के नाम पर तैयार की जाए। इन्हीं विचारों से प्रेरित होकर उन्होंने झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई की जन्म तिथि 22 अक्तूबर 1943 को सिंगापुर में कैप्टेन डॉ० लक्ष्मी सहगल के नेतृत्व में "रानी झाँसी रेजीमेंट" बनायी थी। उस समय इस रेजीमेंट में तीन सौ से अधिक प्रशिक्षित युवतियां थीं, परन्तु बाद में हज़ारों की संख्या में पहुँच गयी थीं। इस रेजीमेंट के उद्घाटन के ठीक एक दिन पहले 21 अक्तूबर को सुभाष चन्द्र बोस ने स्वतन्त्र भारत की अस्थायी सरकार की विधिवत् घोषणा कर दी थी। कैप्टेन डॉ० लक्ष्मी सहगल उस मंत्रिमण्डल में महिला प्रतिनिधि मन्त्री थी।

इस प्रकार क्रांतिकारी वीर महिलाओं की रोमांचक गाथाएं अमर स्वतन्त्रता के इतिहास के स्वर्णिम दस्तावेज बनी हुई हैं।

आदमी के बड़प्पन की पहचान उसके गुणों से होती है। ऊंची कुर्सी पर बैठने से नहीं। महल के शिखर पर बैठा हुआ कौआ हंस नहीं बन सकता।

—चाणक्य

'भारत छोड़ो' आंदोलन में छात्र-छात्राओं की भूमिका

□ आशारानी व्होरा

"तुम्हारा नाम ?"
"बागी नंबर 1, 2, 3...22।"
"पिता का नाम ?"
"महात्मा गांधी ,"
"माता का नाम ?"
"भारत माता।"

10 नवंबर, 1947 को लाहौर (तत्कालीन पंजाब) में केवल बैज वितरित करते हुए 104 विद्यार्थी गिरफ्तार हुए थे, जिनमें छात्राओं की संख्या 22 थी। पुलिस-स्टेशन पर पूछताछ के समय उन छात्राओं ने पुलिस अधिकारी को यही जवाब दिए थे। जाहिर है, चिढ़ कर पुलिस अधिकारी ने उन्हें दंडित ही किया होगा। पर उन दिनों पुलिस से डरता कौन था। कुछ ही दिन बाद अमृतसर में छात्र-छात्राओं के एक जुलूस को रोकने के लिए पुलिस ने छात्रों को लाठी-चार्ज में घायल किया, छात्राओं के साथ अपमानजनक व्यवहार भी किया, जिसके विरोध में छात्र-छात्राओं ने फिर उग्र प्रदर्शन किए।

छात्रों की एक मतवाली टोली पटना सेक्रेटेरिएट के सामने जुलूस लेकर पहुंची। सभी अपनी जान हथेली पर लिए आजादी के नशे में चूर। उन दिनों आजादी के इन दीवानों को कौन रोक सकता था। अजीब मस्ती छाई थी उन पर। उधर अंग्रेज अफसर आर्चर भी सशस्त्र सिपाहियों के साथ तैनात था। उसने आगे बढ़ते छात्रों को ललकार कर पूछा, "क्या चाहते हो तुम लोग ?"

"झंडा फहराना—बस।"

"कौन झंडा फहराएगा ? वह जरा सामने आए।" आर्चर चीखा।

"मैं।" एक छोटी उम्र का छात्र सबसे पहले आग आया। फिर देखते देखते 11 छात्र गर्व के साथ उसके पीछे कतार बांध आ खड़े हुए।

आर्चर उस कम उम्र छात्र को लक्ष्य कर कड़क कर बोला, 'अच्छा' तुम झंडा फहराना चाहते हो? परिणाम जानते हो?"

"जानता हूं। आपको जो करना है करें, हमें जो करना है, करके जाएंगे।"

"हूं, तो चलो, सीना खोल लो।" और आर्चर के यह कहने के साथ ही वह छात्र अपना सीना खोल, एक कदम आगे बढ़ आया। आर्चर उसके साहस की कदर नहीं कर पाया। गुस्से से भर, उसने हुक्म दे दिया, "गोली चलाओ।" और धायं-धायं। उसी क्षण देखते-देखते ग्यारह की कतार के सभी छात्र एक एक कर आगे आते गए और अपने सीने पर गोलियों की बौछार झेलते गए। एक अद्भुत पर भयावह दृश्य उपस्थित हो गया। पीछे खड़ी जनता ने भी उन्हें नहीं हटाया, घटना-स्थल पर डटी रही और वंदेमात्रम का जयघोष करती रही। अंग्रेजो भारत छोड़ो' की ललकार से सेक्रेटेरिएट की दीवारें कांप गईं। तभी लोगों की आंखें इस बीच सेक्रेटेरिएट के गुंबद की ओर गईं, जहां एक दुबला पतला छात्र तिरंगा फहराने में सफल हो चुका था। जुल्मी फौजी अपना क्रूर कारनामा कर वहां से हट रहे थे। कतार के ग्यारह के ग्यारह छात्रों पर गोली चल चुकी थी। इधर वे हटना शुरू हुए, उधर वह छात्र झंडा फहरा रहा था। उनके जाने के बाद एक ओर हाहाकार मचा था, जनता गुस्से से उबल रही थी, दूसरी ओर सेक्रेटेरिएट की गुम्बद-चोटी पर चढ़, तिरंगा अपनी विजय पर लहरा रहा था।

तुरंत बाद गिनती हुई। छः विद्यार्थी घटना-स्थल पर ही दम तोड़ गए थे। चार घायल अस्पताल पहुंचाए गए। ग्यारहवां बेहोश था, उसे जब गोली निकालने के लिए आपरेशन टेबल पर लिटाया गया, जरा सी देर के लिए उसकी मूर्च्छा टूटी तो उसने पहली बात की डाक्टर से, "मेरे गोली कहां लगी है? पीठ पर या सीने पर?" जब उसे बताया गया कि सीने पर लगी है तो वह गर्व से मुस्कुराया, तब ठीक है। कोई यह तो नहीं कहेगा कि उसे भागते हुए गोली लगी।" बस ये ही उसके अंतिम शब्द थे। इसके बाद आपरेशन से पूर्व ही उसकी मृत्यु हो गई। मौत के बाद गोली की स्थिति जान कर उसके चेहरे पर चिर शांति थी। अन्य घायलों के शरीर से जो गोलियां निकाली गईं, उनकी जांच से पता चला कि उस क्रूर अधिकारी ने उन दमदम गोलियों का मासूम छात्रों पर इस्तेमाल किया था, जिनका प्रयोग अन्तर्राष्ट्रीय नियम के अनुसार युद्ध-क्षेत्र में भी निषिद्ध था। इस तरह के गौरवमय कारनामों और बलिदानों से देश की आजादी का इतिहास रक्तरंजित मिलेगा। 1942 के उग्र आंदोलन के समय सभी के साथ और क्रांति-आंदोलनों के समय क्रांतिकारियों के साथ तो विशेष रूप से।

1919-20-22, 30-32-34, 39-40-41 के असहयोग आंदोलनों, सत्याग्रहों और व्यक्तिगत सत्याग्रहों की बार बार आवृत्ति के बाद अंग्रेज अच्छी तरह समझ चुके थे कि दमन-चक्र चलाने और किश्तों में कुछ घोषणाएं करने से अब काम चलने वाला नहीं है। भारतीय मन अब हर कीमत पर आजादी हासिल करने के लिए प्रशिक्षित हो चुका है। भारत को अब अधिक देर तक गुलाम नहीं रखा जा सकेगा। 1941 के अंत में जब द्वितीय महायुद्ध

अपने चरम पर पहुंच गया था और मार्च 1942 में जब जापानी फौज द्वारा रंगून पर कब्जा कर लिए जाने से भारत के सीमांत पर ही खतरा पैदा हो गया था, ऐसे संकट के समय युद्ध में भारत का पूरा सहयोग पाने के लिए 'क्रिप्स मिशन' को भारत भेजा गया ताकि जापान को इस ओर बढ़ने से रोका जा सके।

लेकिन लार्ड क्रिप्स अपनी घोषणा की जो रूपरेखा साथ लाए थे, उनमें युद्ध समाप्ति बाद भारत को औपनिवेशिक दर्जा देने की बात थी। यह आपत्तिजनक प्रस्ताव भी कि कोई प्रांत भारतीय संघ से अलग रहना चाहे तो वह सीधे ब्रिटेन से बात कर सकता है। जाहिर है, भारतीयों में फूट डालने वाला आजादी का यह आधा अधूरा प्रस्ताव स्वीकार योग्य न था, अत: आपसी मतभेद भुला कर सभी राजनैतिक दलों ने एकमत से इसे अस्वीकार कर दिया था।

जुलाई शुरू में वर्धा में कांग्रेस-कार्यसमिति की बैठक बुलाई गई और राष्ट्रीय मांग का प्रारूप स्वीकार करने के साथ, इस पर भी विचार हुआ कि नामंजूर होने पर अगला हमारा कदम क्या होगा? समिति ने ब्रिटेन से मांग की कि वह तुरंत भारतीयों को सत्ता सौंपे और भारत छोड़ दे, अपनी रक्षा हम आप कर लेंगे। यदि ऐसा न किया गया तो अपनी सारी अहिंसक शक्ति का प्रयोग कर सीधी कार्यवाही शुरू की जाएगी। पर आंदोलन शुरू करने से पूर्व इस नीति की पुष्टि के किए बम्बई में अ० भा० कांग्रेस कमेटी का अधिवेशन बुलाने का निर्णय हुआ।

8 अगस्त, 1942 का वह ऐतिहासिक अधिवेशन! क्रिप्स मिशन की असफलता पर प्रकाश डालते हुए श्री नेहरू ने भारतीयों को पहले से अधिक कुरबानी देने के लिए तैयार रहने का आह्वान करते हुए 'भारत छोड़ो' आदोलन का प्रस्ताव रखा। सरदार पटेल ने तुरंत उसका समर्थन किया और प्रस्ताव सर्वसम्मति से पास हो गया। इसके बाद गांधी जी ने अपना सबसे लंबा भाषण दिया। वे दो घटे से अधिक समय बोले, जिसमें भारतीयों के लिए कुछ कर गुजरने की प्रेरणा थी कि अब और सहन नहीं करेंगे, करेंगे या मरेंगे। यही था, 'करो और मरो' का आह्वान, जिसने सारे देश को एक उग्र आंदोलन में धकेल दिया। उस उग्रता पर किसी का, गांधीजी का भी, कोई वश न रहा और आंदोलन नेताओं के पास से जनता की झोली में चला गया।

गांधीजी अभी भी वायसराय को कुछ समय देना चाहते थे कि शायद बातचीत से कोई हल निकल आए, पर ऐसा नहीं हो सका। चेतावनी वाले भाषणों को ब्रिटिश अधिकारियों ने गंभीरता से लिया। खतरा भांप कर अगले दिन कांग्रेस कार्यकारिणी की मीटिंग से पूर्व ही 9 अगस्त की सुबह गांधी जी सहित सभी बड़े नेता गिरफ्तार कर लिए गए। उन्हें गुप्त जगहों पर भेज दिया गया। कुछ नेता परिस्थिति भांप, तुरंत भूमिगत हो गए। शेष नजरबंद कर दिए गए। इसके साथ ही कांग्रेस सगठन को भी गैरकानूनी करार दे दिया गया। प्रस्तावित आंदोलन योजनाविहीन, नेताविहीन हो गया।

खबर फैलते ही जनता के मन में दबे आक्रोश में विस्फोट हो गया। हजारों हजार लोग सड़कों पर निकल आए और अंग्रेजी राज का हर चिन्ह मिटाने पर उतारू हो गए।

एक ही रात में सैंकड़ों मील लंबी रेल-पटरियां उखाड़ दी गईं। बम्बई, अहमदाबाद, पूना में मजदूरों ने हड़ताल कर दी। हर शहर, हर कस्बे में लाठी-गोली खा कर भी लोग पीछे हटने को तैयार न थे। केवल दिल्ली में ही 11-12 अगस्त को पुलिस ने निहत्थी भीड़ पर 47 बार गोली चलाई, 67 व्यक्ति मरे, 147 घायल हुए। जनता का जोश उबाल पर था। कहीं से नेतृत्व-निर्देशन न मिलने से आंदोलन स्वत: ही जनता के हाथ में चला गया था।

गांधी जी जेल जाते जाते कह गए, 'करो या मरो।' उनका आशय अहिंसक क्रांति द्वारा करने या मरने से था। पर जनता ने, विशेष रूप से चढ़ती उम्र के छात्र-छात्राओं ने, किशोरों और नवयुवकों ने अपने ढंग से 'मरो' के साथ 'मारो' भी जोड़ लिया था। हिंसा, तोड़फोड़ और जहां अंग्रेज या उसकी पुलिस दिखे, उसे मारो।

इस आंदोलन की एक और विशेषता थी, बड़े पैमाने पर मजदूरों, किसानों, ग्रामीण, शहरी, सभी समुदायों, वर्गों के लोगों महिलाओं, और छात्र-छात्राओं की इसमें हिस्सेदारी। आंदोलन जनता के हाथ में था, स्थानीय स्तर पर उसका नेतृत्व भी। इससे पहले छात्रों, महिलाओं की टोलियां केवल धरनों पर बैठती थीं, प्रदर्शन-जुलूसों में भाग लेती थीं। अब उन्होंने जान हथेली पर लेकर आफिस, स्कूल-कालेज, मिलें-फैक्टरियां, पोस्टआफिस, रेलवे कार्यालय आदि बंद करवाना भी शुरू कर दिया था और स्वतंत्रता का जय-घोष करते हुए सरकारी इमारतों पर झंडा फहराना, अफसरों को जबरन त्यागपत्र देने के लिए मजबूर करना भी शुरू कर दिया।

बिहार, बंगाल, असम, संयुक्त प्रांत, गुजरात; आंध्र, मैसूर में तो छात्र-छात्राओं ने सरकारी मशीनरी का चक्का जाम ही कर दिया था। सीधेसादे गांववासी और कभी घर से बाहर न निकलने वाली अनपढ़ घरेलू औरतें भी पीछे न थीं; कहीं कहीं नेतृत्व तक करने लगी थीं। सरकार ने भी विद्रोह को कुचलने और बागियों को सबक सिखाने के लिए कमर कस ली थी। निषेधाज्ञाएं निकालीं। विशेष अध्यादेश लाए गए। विशेष अदालतें बैठाई गईं। व्यक्तिगत और सामूहिक जुर्माने किए गए। सम्पत्तियों की कुर्की-नीलामी, घरों को आग लगाने तक की बातें आम थीं। लाठी-गोली तो रोज की, हर जगह की बात हो गई। पर लोग न डरे, न हारे। छात्राओं में सर्वाधिक जोश था।

बंगाल, बिहार, महाराष्ट्र के कुछ हिस्सों में तो सरकार नाम की चीज नहीं रह गई थी। वहां राष्ट्रीय सरकार की घोषणा कर दी गई। बलिया, मुजफ्फरपुर, मुंगेर, सतारा; तामलुक आदि स्थानों पर अंग्रेजों के पिठ्ठुओं ने जनता के सामने आत्म-समर्पण कर दिया था या वे वहां से भाग खड़े हुए थे। कई जगहों पर उग्र भीड़ ने हिंसा का भी सहारा लिया, जिसमें अनेक अंग्रेज मारे गए और बदले में अंग्रेजों ने भी दमन-कार्यवाहियां तेज कर दी थीं। 1857 की क्रांति के बाद देश इस समय एक और बड़ा बलिदान दे रहा था— दस हजार से अधिक लोग मारे गए तथा एक लाख से अधिक जेलों में बंद कर दिए गए।

दूसरी ओर जनता ने भी अपनी ताकत का अच्छा परिचय दिया। सैंकड़ों गोरों और उनके पिठ्ठुओं को भून दिया गया। इस दौरान 208 पुलिस स्टेशन, 332 रेलवे स्टेशन और

945 पोस्ट आफिस क्रुद्ध भीड़ ने जला दिए। सारे देश में एक ही दृश्य था, जनता का उग्र प्रदर्शन और दोनों ओर से बदले की कार्यवाही। अधिकांश नेता जेलों में थे, जिसके जी में जो आता था, कर लेता था। निर्देशन केवल गुप्त रेडियो या भूमिगत नेताओं के गुप्त परचों से ही मिल पाता था, जो सब जगह पहुंच नहीं पाते थे, बहुत बार बीच में ही पकड़े जाते थे। उस समय वायसराय लार्ड लिनलिथगो थे, जिन्होंने ब्रिटिश प्रधानमंत्री चर्चिल का सहारा पाकर दमनचक्र तेज कर दिया था। बातचीत द्वारा किसी सुलह-संधि या नेताओं की रिहाई की बात को ताक पर रख दिया गया था। इसलिए 1942 का यह आंदोलन उग्र होने और ब्रिटिश सरकार को हिला देने वाला होकर भी, नेतृत्व व संगठित कार्यक्रम के अभाव में सफल नहीं हो सका। बस इतना हुआ कि साम्राज्यवाद के विरुद्ध भारतीय जन-आक्रोश और किसी भी कीमत पर स्वतंत्र होने का उनका संकल्प अंग्रेज शासकों के सामने उजागर हो गया। उन्हें स्पष्ट हो गया कि भले ही इस समय वे दमनचक्र से इसे दबा दें, इस देश को अब और देर तक गुलाम नहीं रखा जा सकता।

1942 के 'भारत छोड़ो' आंदोलन में छात्रों ने क्या-क्या किया, इसकी एक झलक रामवृक्ष बेनीपुरी ने अपनी पुस्तक 'जंजीरें और दीवारें' में इस प्रकार प्रस्तुत की है : "छोटे-छोटे बच्चे भी बेधड़क तार और टेलीफोन के लंबे खंभे पर चढ़ जाते और उसमें लगे उजले डिब्बे को तोड़ कर तार-टेलीफोन की लाइन खराब कर देते। रिक्शे वालों ने, घरेलू नौकरों ने अपने संगठन बना लिए यातायात अवरुद्ध करने, अंग्रेजों की कोठियों में काम बंद कर देने जैसी कार्यवाहियां कर, अपने ढंग से लड़ाई में हिस्सा लेने लगे। जहां पुलिस-टुकड़ी या फौजी-टुकड़ी के आने की खबर मिलती, वहां ये लोग पहले ही पेड़ काट कर सड़क पर रास्ता जाम कर देते और आसपास रिक्शे खड़े कर देते कि पहले रास्ते रोके जा सकें और फिर अगर गोली चल जाए तो रिक्शों पर डाल, घायलों को अस्पताल पहुंचाया जा सके। इन निहत्थों को भी 'देखते ही गोली मार दो' जैसे क्रूर दमन-आदेशों का शिकार होना पड़ा। पर कौन परवाह कर रहा था तब जान जाने की भी! पुलिस के लोग, सैनिक अपना काम करते, ये अपना। सड़कों को खोद डालने, पुल तोड़ कर रास्ते बंद करने के काम में लगे रहे लोग। उधर बंदूकें, मशीनगनें, इधर छैनी, हथौड़ी, गैंती, कुदाल का कमाल! जब रेलवे गोदाम लूटे गए, पुलिस वालों की राइफलें छीन ली गईं, कई जगह अपनी वर्दी उतार कर पुलिस पनाह मांगती दिखी। जहां पुलिस वालों ने हेठी दिखाई, थानों में आग लगा दी गई, बाहर से कुंडी लगा कर उन्हें अंदर फूंक दिया गया। बम्बई के गुप्त रेडियो ने कहा, "हां, यह इन्कलाब है—इन्कलाब जिंदाबाद।" अपनी एम० ए० की पढ़ाई बीच में छोड़ कर उषा मेहता यह भूमिगत रेडियो चला रही थीं।

बंगाल, असम, बिहार में आंदोलन, सर्वाधिक तेज था। बंगाल के मिदनापुर और तामलुक में वालंटियर सेना विद्युतवाहिनी तोड़फोड़ की कार्यवाहियों में अधिक सक्रिय थी। इन स्वयंसेवकों ने महिलाओं की सुरक्षा के उपाय किए और उनके साथ तामलुक में हुए अपमान का बदला लिया। कल्पना दत्त, वीना दास, उज्जवला मजूमदार सुहासिनी गांगुली जैसी क्रांतिकारी युवतियां इस दौर में फिर सामने आ गई थीं। जिन पर पाबंदियां समाप्त

नहीं हुई थीं, वे भूमिगत रह कर काम कर रही थीं।... असम की एक स्कूली लड़की कनकलता बरुआ ने 500 लोगों के जुलूस की अगुवाई की और गोपुर थाने पर झंडा फहराने की कोशिश में पुलिस-गोली से शहीद हो गई। उसके गिरते ही एक के बाद एक उसके साथी झंडा पकड़ते गए और शहीद होते गए। तब एक अन्य किशोरी रत्नप्रभा ने झंडा पकड़ा कि उसकी बूढ़ी दादी योगेश्वरी ने तुरंत धक्का दे, उसे परे धकेल दिया और उसे बचा कर झंडा स्वयं पकड़ लिया और वह 72 वर्षीया दादी वहीं गोली खा कर ढेर हो गई। ऐसा ही कुरबानी का उत्साह था, उस माहौल में, जब बच्चे, किशोर, युवा, बूढ़े, सभी में मर मिटने की होड़ लगी थी। बिहार के सेक्रेटेरियट पर झंडा फहराने के प्रयत्न में 11 छात्रों के शहीद या घायल होने की रोमाँचक कहानी हम इस लेख के प्रारंभ में जान चुके हैं। मलखाचक गांव के स्वतंत्रता-सेनानी रामविनोद सिंह की गिरफ्तारी के बाद, उनकी दो किशोरी लड़कियों शारदा और सरस्वती ने आंदोलन की बागडोर थामी और उन्हें 11 व 14 साल की लंबी सजाएं सुनाई गईं। यह अलग बात है कि देश की आजादी के बाद ये लंबी सजा-अवधि अपने-आप समाप्त हो गई।

उत्तरप्रदेश में बलिया जिले में आंदोलन बहुत अधिक उग्र था। स्थानीय लोगों ने जिला प्रशासन पर कब्जा कर लिया था। इसलिए वहां ब्रिटिश पुलिस द्वारा उन पर ज्यादा जुल्म ढाए गए और महिलाओं पर अत्याचार भी किए गए। तब छात्र-छात्राओं की टोलियों ने गांव गांव घूम कर उनकी रक्षा की और बदले में मार-काट भी की।... कानपुर में छात्रों ने जुल्म के विरोध में डेढ़ महीना हड़ताल की।... बनारस में एक जुलूस की अगुवाई छात्राएं कर रही थीं। जब गोली चलने का हुकम हुआ, छात्र छात्राओं को पीछे धकेल, स्वयं सीना खोल आगे आ गए। यह थी हमारी परंपरा, वक्त पर भाईयों द्वारा बहनों की रक्षा की। तब बहनों ने भी अजब साहस दिखाया। उन्होंने घुड़सवार सैनिकों के घोड़ों की लगामें पकड़ लीं और सवारों को नीचे गिरा दिया। इस के बाद कई राउंड गोलियां चलीं और अनेक छात्र-छात्राएं घायल हो गए। पर छात्राओं पर गोली चलाने के कारण बाद में डिप्टी कमिश्नर को अपनी नौकरी से हाथ धोना पड़ा था।

पहले के सारे आंदोलनों में दक्षिण भारत अधिक सक्रिय नहीं था। पर 1942 के इस आंदोलन में दक्षिण के राज्यों के छात्रों ने भी कमाल कर दिखाया। कर्नाटक में छात्र-जुलूसों पर लाठी-चार्ज रोजमर्रा की बात थी। कुमठा में 5 छात्राएं घायल हुईं, 47 छात्रों को गंभीर चोटें आईं। 9 अगस्त से 20 सितंबर तक छात्र-छात्राओं की ये गतिविधियां जारी रहीं, फिर तितरबितर कर दी गईं। 23 अक्टूबर को धारवाड़ की दो छात्राएं हेमलता और गुणवती अदालत में घुस, जज की सीट पर तिरंगा फहराने लगीं। उन्होंने जज को आठ दिन की मोहलत दी कि इस बीच वह इस्तीफा दें, वर्ना उन्हें सबक सिखाया जाएगा। पुलिस बुला ली गई। गुणवती भागने में सफल हो गई, हेमलता पकड़ ली गई। कम उम्र होने के कारण उसे जुर्माने के साथ, केवल एक महीने की सजा सुनाई गई। बाद में गुणवती फिर उसी अदालत में वही कार्यवही दुहराने पहुंच गई। उसे 150 रुपए जुर्माने के साथ, तीन महीने की सजा दी गई।... मैसूर में छात्रों ने सभी अंग्रेज अधिकारियों को लिखित आदेश देकर इस्तीफा देने के लिए कहा। मैजिस्ट्रेट द्वारा इन्कार करने पर छात्र-टोली ने उसके कागजपत्र छीन

लिए और जबरदस्ती रिटायर कर दिया। खबर मिलते ही पुलिस वहां पहुंची तो छात्र-छात्राओं ने उसे घेर कर पुलिस वालों की टोपियां उतरवा लीं और उन्हें जबरन गांधी टोपियां पहना दीं। अजीब समां बंध गया था वहां, जिसे देख जनता की भीड़ मुस्कुरा रही थी। इसी समय गोली-चलने से कुछ छात्र घायल हुए, जिनमें एक छात्रा भ. थी। गांव वालों ने घेर कर गोली चलाने वाले इन्सपेक्टर को वहीं मार डाला। इन्सपेक्टर की हत्या के मुकदमे में 14 लोगों को फांसी हुई, 23 को आजीवन कारावास, इनमें तीन महिलाएं भी थीं।

आंध्र में भी किसान, मजदूर, महिलाएं, छात्र-छात्राएं, सभी भाग ले रहे थे। गुंटूर के टेनाली जिले में भी छात्र-छात्राओं ने पुलिस की पगड़ियां उतरवा, उन्हें जबरदस्ती गांधी टोपियां पहनाईं। रेलवे स्टेशन पर कब्जा कर लिया। बुकिंग क्लर्कों की छुट्टी कर दी। टेलीफोन के तार काट दिए। टिकट व नोटों सहित स्टेशन की इमारत फूंकी। मद्रास से वहां पहुंची एक रेलगाड़ी के सभी मुसाफिरों को उतार कर गाड़ी को आग लगा दी। बाद में जिला मैजिस्ट्रेट के वहां पहुंचने पर गोली चली, जिसमें कुछ छात्र मारे गए व कई जखमी हुए। अन्य जगहों पर भी रेल-पटरियां उखाड़ी गईं। कचहरियां, थानों पर कब्जा कर झंडे फहराए गए। कहीं कहीं थाने व अदालतें फूंक दिए गए। भीमावरम् में रेवेन्यू आफिस पर झंडा फहराने के बाद वहां तैनात अफसर को झंडे को सलामी देने के लिए मजबूर किया गया। इस कारण वहां भी बाद में लोगों पर पुलिस ने बहुत जुल्म ढाए।

केरल में जगह जगह छात्रों ने हड़ताल कराई। कालिज बंद करवा दिए गए। कहीं थानों, कचहरियों पर पिकेटिंग, कहीं तो तोड़फोड़, कहीं पुलिस से मारपीट, तो कहीं सरकारी इमारतों में आगजनी भी। फलस्वरूप कई दिन तक कचहरियां बंद रहीं। मालाबार की पुलिस द्वारा जबरदस्त लाठी-चार्ज से बहुत से छात्र घायल हुए। प्रांत की कांग्रेस कमेटी गैरकानूनी करार दे दी गई। महिलाओं के चरखा-केंद्र तक बंद कर दिए गए। अनेक छात्राएं भी पिकेटिंग करते पुलिस की मार से घायल हुईं।

तमिलनाडु में आंदोलन पर्याप्त सफल रहा: जुलूस, सभाएं, मजदूर हड़तालें, कालिजों का बहिष्कार, तोड़फोड़ की कार्यवाहियां, सभी कुछ रोज की बात थी। लाठी-चार्ज भी यहां-वहां होते रहते थे। मद्रास शहर में अगुवाई छात्रों के हाथ ही थी कलकत्ता जाने वाली गाड़ी कई दिन तक नहीं चलने दी गई। रेल-कर्मचारियों को हड़ताल करने के लिए बाध्य किया गया। रेलवे मजदूर भी इस कदर संगठित थे कि आंदोलनकारी छात्रों को पटरियां उखाड़ने की जरूरत नहीं पड़ी, उन्होंने स्वयं ही रेलों का चलना बंद कर दिया। त्रिची जिले में अधिक तोड़फोड़ हुई। मन्नागुडी स्टेशन जला दिया गया। रामनाथ जिले में थानों पर अधिकार कर लिया गया। जेलें तोड़ कर कैदियों को मुक्त कर दिया गया। सरकारी इमारतों में कई जगह आग लगाई गई। वहां 72 घंटे के लिए 'बागी सरकार' स्थापित हो गई। फिर फौज बुला ली गई और कब्जा वापस लेने के साथ, दमन-कार्यवाही भी तेज कर दी गई। गांव लूटे गए, सामूहिक जुर्माने किए गए, घरों में आग लगा दी गई। लगभग 20 गांव तबाह हुए, जिनके परिवारों को अपार कष्ट झेलने पड़े।

इस तरह, हर जगह उग्र आंदोलन, तोड़फोड़ कार्यवाहियां, कहीं कहीं बागी सरकारों

की स्थापना तक। फिर दमन-कार्यवाहियां। पर लोग हताश नहीं हुए, उन्हें लगा, हमने कुछ किया, आजादी की कीमत चुकाई। शहादतों पर भी शोक नहीं मनाया जाता था। उस पर गर्व किया जाता था और जेल की लंबी सजाओं के बजाए युवा लोग फांसी पर चढ़ना या सीने पर गोली खाना पसंद करते थे। देश के लिए त्याग और कुरबानी में परस्पर होड़ लगी थी।

काश! आज की युवा पीढ़ी अपने इस इतिहास से कुछ प्रेरणा ले सके! कम से कम जाने तो सही कि जो आजादी आज वे भोग रहे हैं, उसके लिए पूर्व पीढ़ी ने कैसी कैसी कुरबानियां दी थीं! 1942 का 'भारत छोड़ो' आंदोलन अंग्रेजी राज को वह अंतिम बड़ा झटका था, जिसके फलस्वरूप आजादी निकट आ सकी थी, वर्ना तो हम पौने दो सौ साल से लड़ ही रहे थे—कभी असफल क्रांति करके, कभी याचिकाओं द्वारा, तो कभी असहयोग आंदोलन व सत्याग्रह करके। इस लड़ाई में गांधी जी के अहिंसक सत्याग्रहों, सशस्त्र क्रांति में विश्वास करने वाले क्रांतिकारियों की गुप्त कार्यवाहियों, आजाद हिंद फौज का अपने ढंग से देश को आजाद कराने का प्रयत्न, सभी गतिविधियों का समान योगदान है, क्योंकि सभी की मंजिल एक थी, रास्ते भले ही अलग हों। 1942 का उग्र आंदोलन तो जैसे सभी तरीकों का सम्मिश्रण था। नेताओं के जेलों में होने से नेता विहीन लोग अपने-अपने हिंसक, अहिंसक, सभी तरीकों से लड़ रहे थे। युवाओं और छात्र-छात्राओं में ज्यादा जोश था। यद्यपि इस आंदोलन में किसान, मजदूर, महिलाएं, सभी शामिल थे, पर कमान जैसे छात्रों के हाथ ही आ गई थी। इसीलिए तोड़फोड़ की कार्यवाहियां ज्यादा हुईं और अंग्रेज सरकार दमन-चक्र चला कर भी भीतर से दहल गई थी। उसे अपने राज का अंत निकट दिखाई दे गया था।

यहां आज की किशोर-युवा पीढ़ी को एक बात और अच्छी तरह समझ लेनी है कि आंदोलन, क्रांति और आतंकवाद में क्या अंतर है? आतंकवादियों के सामने कोई उच्च लक्ष्य नहीं होता, देश के लिए जानें कुरबान करना तो बड़ी बात है। अपने स्वार्थवश लूटखसोट करना या भाड़े पर दूसरे देश में घुसपैठ कर जान-माल की हानि करना अथवा राजनैतिक स्वार्थ से विरोधियों को नुकसान पहुंचाना, राजनैतिक हत्याएं करना आतंकवाद है। अपने देश को गुलामी से आजाद कराना आजादी की लड़ाई ही कहलाएगी। क्रांति का अर्थ भी मात्र तोड़फोड़ नहीं होता, उसके पीछे एक दर्शन, एक विचार भी होता है। अतः वैचारिक क्रांति के बिना क्रांति का कोई अर्थ नहीं होता। यदि क्रांति और स्वतन्त्रता के लिए दी गई कुरबानी का अर्थ जान-समझ कर, अपने इस कुरबानी के इतिहास से प्रेरणा ले, आज के किशोर-युवा इसी समर्पण भावना से देश-निर्माण में लग सकें, तो न आतंकवाद रहे, न भ्रष्टाचार और देश का नक्शा बदल जाए। छात्र-शक्ति, युवा शक्ति देश की बहुत बड़ी शक्ति होती है। क्या आप अपनी इस शक्ति को पहचान, वर्तमान, भ्रष्ट और अपसंस्कृति के माहौल को बदलने में उसका सदुपयोग करना नहीं चाहेंगे? यदि ऐसा कर सकें तो एक बार फिर इतिहास बदलने का सेहरा आपके सिर बंध सकता है। आजादी के स्वर्णजयंती वर्ष में 1942 की प्रेरणा से आप यह संकल्प ले सकें तो आजादी का जश्न मनाना कितना सार्थक होगा। है न? □

क्रांतिकारी पत्रिका 'चांद' का फांसी अंक

□ डॉ० पुष्पपाल सिंह

"जब से प्रयाग के मासिक सहयोगी चाँद ने अपना 'फाँसी-अंक' प्रकाशित किया है तब से यू० पी० सरकार की उस पर तीखी नज़र रही है। चाँद के 'फांसी-अंक' में उसे ब्रिटिश सलतनत के स्तंभों को नष्ट-भ्रष्ट कर डालने वाली चिनगारी दिखी। अतएव उसने उन ऐतिहासिक सत्य की बलि-गाथाओं को 'ज़ब्त' कर अपने तरकश का सबसे विषैला तीर चला दिया।"
—'कर्मवीर', 16 जून 1929 ई०

"इलाहाबाद का चाँद' मासिक पत्र हिन्दी के मासिक साहित्य में विशेष स्थान रखता है। रोमांचकारी तथा क्रान्तिकारी साहित्य को पैदा करने में हिन्दू जाति तथा हिन्दुस्तान देश में इसने विशेष भाग लिया है। इस कर्त्तव्य पालन के कारण इसे सरकार के दमन-चक्र का शिकार होना पड़ रहा है। भारत में अंग्रेज़ो राज्य' नाम की पुस्तक कहां से प्रकाशित हुई है। संस्थाओं में चाँद का जाना रोक दिया गया है। — पंजाब केसरी, 20 जून 1939

"इधर कुछ समय से हमारा प्रभागीय सहयोगी 'चाँद' सरकारी क्रोध का शिकार बन गया है। उसका 'फाँसी अंक' निकला, उसमें कुछ इस देश पर शहीद हो जाने वाले पागलों की शहादत की कथाएँ थीं। पहला अपराध 'चाँद' का यही था। 'चाँद का यह अंक ज़ब्त कर लिया गया। उसके पश्चात् श्रीयुत सुन्दर लाल जी की प्रसिद्ध पुस्तक "भारत में अंग्रेज़ी राज्य" निकली और निकलने के तीन दिन बाद ही सरकारी कृपा की नज़र हो गई।"
—'प्रताप', 16 जून 1929

"The latest ban is no doubt a sequal to the proscription of the book, 'Bharat Mien Augrezi Rajya, which was published by the Chand office.

In a sense the ban is a listute to the worth of the Chand. In fact Chand is one of the last Hindi magazines in India & is by far the last devoted to the cause of Indian woman hood."

—The Bombay Chronicle, Thursday, May 30, 1929

ये मात्र कुछ प्रतिक्रियाएँ है देश के विभिन्न तत्कालीन महत्वपूर्ण समाचार-पत्रों की जिनके संपादकों ने कुपित होकर चाँद के 'फाँसी अंक' के ज़ब्त होने पर अपनी आक्राशपूर्ण टिप्पणियाँ दी थीं। हिन्दी-अंग्रेज़ी के सभी पत्रों ने युक्त प्रांत सरकार (अब का उ० प्र०) के इस निर्ममतापूर्ण कृत्य का तीव्र विरोध किया था। उपर्युक्त पत्रों के अतिरिक्त 'आर्य' (`0 जून 1929), 'विश्वमित्र' (जून 18, 1929) 'सूर्य' (ज्येष्ठ कृष्ण 72, सम्वत् 1986) 'माहेश्वरी' (आषाढ़ कृ० 2, सम्वत् 1986), 'आज' (17 जून 1929), 'समय' (1 जून 1929) 'अरुण' (1 जून 1929), आदि हिन्दी समाचार-पत्रों तथा 'दी लीडर' (जून 14, 19 9), 'दि हिंदू' (जून 18, 1929) तथा अन्य अनेक अग्रेज़ी समाचार-पत्रों ने ब्रिटिश सरकार के इस निंदनीय हल का विरोध किया था। यह सब हम यह स्पष्ट करने के लिए प्रस्तुत कर रहे हैं कि उस समय 'चांद' और विशेषत: उसके नवम्बर 1928 में प्रकाशित 'फांसी-अक' की देश के स्वतन्त्रता-संग्राम में कितनी महत्वपूर्ण भूमिका थी। 'चाँद' के इस महत्वपूर्ण 'फांसी अंक' के प्रकाशन से कुछ समय पूर्व 'चांद' के साहसी प्रकाशक और संपादक श्री रामरिख सिंह सहगल ने पण्डित सुन्दरलाल की प्रख्यात पुस्तक 'भारत में अंग्रेज़ी राज्य' प्रकाशित कर ब्रिटिश सरकार का कोप अर्जित कर इस प्रकार यह गले का फंदा बहिनों का सौभाग्य-सिन्दूर और भाइयों की कुंकुम की पिचकारी बनेगी। ओह ! उस फाग का उल्लास कब भारत की 22 करोड़ गोपियों को नसीब होगा। उस अक्षय-सुंदरी को राधा पद देकर कब वह कृष्णमूर्त्ति स्फूर्ति की वंशी वजावेगी ? कब ? कब ?? कब ???

निकट ही वह दिन है। कुछ मास व कुछ वर्ष व्यतीत होने दो, एक महान् विप्लव की आंधी सायं-सायं करती चली आ रही है, जो पचासों वर्ष तक भारत को दीवाली के दिये न जलाने देगी, परन्तु ससके बाद जो दिये जलेंगे वे क्षुद्र मिट्टी के टिमटिमाते दिये न होंगे—वे होंगे रत्नदीप; और उन्हें साक्षात् राज्य-लक्ष्मी अपने हाथों से जलावेगी।

उदीयमान जातियाँ विशेष अवसरों पर विनोद नहीं करतीं, वेदना-स्थलों की जाँच किया करती हैं। अभूत के विनोद और उल्लास के दिन नहीं, भारत के दिन मृत्युवाद के अध्ययन करने के हैं।"

अपनी 'उदीयमान जाति' के वेदना-स्थलों की जाँच कर उनके उपचार के लिए प्रेरणा, साहस और अदम्य शौर्य भरने का महत्वपूर्ण कार्य 'चाँद' के इस अंक की भेंट ने किया। इस अंक की सारी सामग्री का नियोजन जिस विशाल दृष्टि से किया गया है, उसके प्रमाण-स्वरूप अंक के प्रथम पृष्ठ का उदाहरण दिया जा सकता है। अंग्रेज राज्य के पूरी तरह खिलाफ होते हुए भी प्रथम चित्र 'महापुरुष ईसा' के प्राणदण्ड का रोमांचकारी दृश्य अंक है। सामग्री में सर्वप्रथम रामचरित उपध्याय की कविता 'प्राणदण्ड' है जिसमें फाँसी को किसी भी दृष्टि से

न्यायोचित नहीं माना गया है। संपादकीय विचार के रूप में 'दण्ड का निर्णय,' 'अपराध का विकास', 'कानून और उसका विकास', 'क्रांतिवाद', 'फाँसी'—शीर्षकों में फाँसी पर प्रबुद्ध विचार-चर्चा की गयी है। सपादकीय के बाद फिर श्री कुमार की 'कविता' थी। 'भारत में अंग्रेजी राज्य' पर बात फिर कभी, हम यहाँ 'चाँद' के 'फाँसी-अंक' को ही चर्चा कर यह बताना चाहेंगे कि भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन में उसकी कितनी महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

यद्यपि 'चाँद' के संपादक श्री रामरख सिंह सहगल थे किन्तु 'चाँद' के 'फाँसी-अंक' के संपादक श्री चतुरसेन शास्त्री थे। चाँद के इस अं की नियोजना बड़ी गहरी अन्तर्दृष्टि और संपादकीय सूझ के साथ की गयी है। इस अंक के प्रकाशन में वह कौन-सी प्रेरणा और ऊर्जा का उत्स था, इसका परिच 'विनयाञ्जलि' शीर्षक के संपादकीय के कुछ अंशों से पाया जा सकता है : (बीच के उद्धृत)—प्यारी बहिनों, माताओ, भाइयो और बुजुर्गो! "फाँसी अंक" को दीवाली की अमावस्या समीकरण! देखिए. इसमें बीसवीं शताब्दी के हुतात्मा के दिए कैसे टिमटिमा रहे हैं, और देखिए, स्थान-स्थान पर कैसी ज्वलंत अग्नि धायं-धायं जल रही है, और सबके बीच में जाग्रत-ज्योति-मृत्यु-सुंदरी-कौन शृंगार किए छमछमा कर नाच रही है? पूजो! भाग्यहीन भारत के राज्य-पाट, अधिकार-सता और शक्तिहीन नर-नारियो, यही तुम्हारी गृहलक्ष्मी है। यही मृत्यु-सुंदरी, यही अक्षय-यौवना, यही महा महिममयी !!! महामाया! तुम इसे प्यार करो, इससे परिचय प्राप्त करो, इसे वरो, तब? तुम देखोगे कि ज्यों ही यह तुम्हारे गले का फंदा होने के स्थान पर हृदय का लाल तारा बनेगी, तुम्हारी सहस्त्रों वर्ष की गुलामी दूर हो जायेगी? जैसे प्रबल रासयनिक के हाथ में आ कर काल-कूट विष अमृत के समान प्रभावकारी हो जाता है। उसी प्रकार विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक की 'फाँसी' शीर्षक कहानी दी गयी है। प्राणदण्ड सम्बधी कई कविताओं और लेखों के बाद स्वय संपादक चतुरसेन शास्त्री द्वारा अनूदित विक्टर ह्यूगो की कृति का अनुवाद 'प्राणवध' शीर्षक से दिया गया है। 'फ्रांस की राज्य-क्रांति के कुछ रक्त-रंजित पृष्ठ' शीर्षक राजकुमार रघुवीर सिंह का सुविस्तृत लेख है जिसमें बीच-बीच में लुई 15वें तथा 16वें तथा मेरी आंत्वेनेत के चित्र हैं। इन चित्रों में एक चित्र '21वीं जनवरी 1793' का है जिसमें लुई 16वें को वधस्थल पर ले जाया जा रहा है। 'फ्रांसी अंक के चित्रों पर ही नजर डालें तो बड़े-बड़े नायाब चित्र यहां प्रकाशित हुए हैं कवि गंग को हाथी के पैरों तले कुचलने का चित्र, स्कॉटलैण्ड की रानी मेरी के फाँसी को जाते समय का चित्र, मेरी के कत्ल का करुणापूर्ण दृश्य, फाँसी देने की विभिन्न अमानुषिक विधियों के चित्र, सिक्ख इतिहास के बलिदानी वीरों के अनेक चित्र, आज़ादी की लड़ाई में शहीद हुए—फांसी पर लटकाए गये अनेक शहीदों-भाई राम सिंह, खुशीराम, रामप्रसाद बिस्मिल, राजेन्द्रनाथ लहरी, रोशन सिंह अशफ़कुल्ला खां, उम्मीद के दुर्लभ चित्र तथा उन पर लेख इस विशाल अंक में विज्ञापनों के अतिरिक्त 323 पृष्ठों की सामग्री, की महत् उपलब्धियाँ हैं। इस अंक की कहानियों में चतुरसेन शास्त्री की उपर्युक्त कहानी के अतिरिक्त श्री जनार्दनप्रसाद 'द्विज' की 'विद्रोही के चरणों पर' भी एक सशक्त कहानी है। कानून में फाँसी की क्या स्थिति है, इस पर भी 'भारतीय दण्ड- विधान और फाँसी' (बाबू मनोहर सिंह, बी० ए०, एल० एल० बी) एक गंभीर लेख है। 'फ्रांस में स्त्रियों का प्राणदण्ड', 'चार्ल्स का कत्ल', महाराज नंद कुमार को फाँसी : 'पिता अबराहिम लिंकन का वध' जैसे रोमांचक लेख है। विप्लव-यज्ञ' की आहुतियाँ' शीर्षक

से देश के कोने-कोने में शहीद हुए प्राय: 50 वीरों की बलिदान-कथाएँ हैं जो हमारी आज़ादी की लड़ाई के महत्वपूर्ण दस्तावेज़ी पृष्ठ हैं। इस इतिहास को और अधिक प्रभावी रूप में प्रस्तुत करने के लिए 9 तिरंगे चित्र, 7 आर्ट पेपर पर रंगीन चित्र और 84 सादे चित्र हैं— कुल मिला कर 100 चित्र !! चाँद, में इस 'फांसी अंक' के एक-एक लेख, कहानी और कविता को पढ़ कर तथा इन विभिन्न लोमहर्षक चित्रों को देखकर आज भी रक्त उबाल खाता है। हमारे स्वतंत्रता-संग्राम के इतिहास में इस पत्रिका के उपलब्धिपूर्ण 'फाँसी अंक' का महत्व कभी भी भुलाया नहीं जा सकता।

श्री सुन्दरलाल के प्रख्यात ग्रंथ

"भारत में अंग्रेज़ी राज्य" के ज़ब्त होने पर महात्मा गांधी का आक्रोशपूर्ण वक्तव्य –

From : YOUNG INDIA : "DAYLIGHT ROBBERY"

The proscription without trial, without the author being able to defend himself in any shape or form, of Pandit Sunderlal's learned volumes in Hindi is nothing shot of **daylight robbery** by the U.P. Govt. these volumes represent years of labour. They were brought out at great expense, and if the proscription is allowed to stand, it means the ruin to the author or the publisher whoever may have incurred the expense. The clear statement issued by the publisher shows that the Government was not taken answer:. They knew that the volumes were about to be published, they knew what they were likely to be. And yet they confiscated them without warning & apparently without proper examination thereof. According to the publisher's note they could not have had more than two days to examine the volumes. Surely the author & the public were entitled to know what these was objectionable in them I write from bitter experience. Even to this day I do not know why my booklets "Hind Swaraj" & adaptation of Ruskin's "Upto this Last" were prescribed. I had no notice given to me. But there is one consolation the public may desive from this daylight robbery. The Government are by such acts providing us with easy methods of civil disobedience should it be necessary for us the next year to undertake it on a large scale."

☐ इसी वक्तव्य का हिन्दी अनुवाद गाँधी जी ने 'नवजीवन' (अहमदाबाद, चैत्र सुदी 10, सं० 1985) में प्रकाशित किया—

"दिन दिहाड़े डाका"

"पण्डित सुंदरलाल की विद्वतापूर्ण हिंदी पुस्तक के दोनों खण्डों को बिना मामला चलाये, बिना परीक्षा किए और ग्रंथकर्त्ता के किसी भी रूप में अपना पक्ष-समर्थन करने का

अवसर न देते हुए, जो जब्ती की गयी है, वह संयुक्त-प्रांत सरकार के दिन-दिहाड़े डाका डालने से किसी कदर कम नहीं है। इन पुस्तकों पर ग्रंथकार ने वर्षों तक मेहनत की थी। इनके प्रकाशन में भी बहुत ज्यादा रुपया खर्च हुआ है और अगर ज़ब्ती का हुक्म कायम रखा गया तो उससे ग्रंथकर्त्ता या प्रकाशन का, जिस किसी ने भी इन पर इतना धन खर्च किया हो, सर्वनाश ही समझना चाहिए। सरकार को अंत समय तक अंधेरे में नहीं रखा गया था, उसे पता था कि पुस्तक के दोनों भाग शीघ्र ही प्रकाशित होने वाले हैं और उसे यह भी मालूम था कि इनमें क्या होगा। तिस पर भी उसने बिना हिदायत और बिना योग्य परीक्षण के पुस्तक को एकदम ज़ब्त कर लिया। प्रकाशन के कथानुसार युक्त-प्रांत की सरकार को पुस्तक की परीक्षा के लिए दो दिन से ज्यादा का समय नहीं मिल सकता था। ग्रंथकर्त्ता को और जनता को यह जानने का पूर्ण अधिकार था कि पुस्तक में कौन-सी बात आक्षेपयोग्य थी। मैं अपने कड़वे अनुभव की बात लिखता हूं। आज तक मुझे मालूम नहीं हुआ है कि मेरी 'हिंद स्वराज्य' और 'सर्वोदय' नामक पुस्तकें क्यों ज़ब्त की गई थीं। लेकिन जनता को इस दिन-दहाड़े की लूट से एक तरह का संतोष होना चाहिए। वह यही है कि सरकार अपनी इन करतूतों से सविनय अवज्ञा के साधनों को हमारे लिए सरल बना रही है। ये साधन ऐसे हैं, जिनका अगले साल बड़े पैमाने पर प्रयोग करना हमारे लिए आवश्यक हो पड़ेगा।''

—**मो० क० गांधी**

इस प्रकार स्वतन्त्रता संग्राम में तत्कालीन पुस्तकों-पत्रिकाओं की विशिष्ट भूमिका स्पष्ट देखी जा सकती है।

एक काल का साहित्य दूसरे काल के साहित्य से अलग नहीं हो जाता उनके भीतर पायो जाने वाली गहरी मानवीय संवेदना उन्हें एक दूसरे से जोड़ रहती है। यह मानवीयता ही साहित्य को कालेतर बनातो है। —भीष्म साहनी

आज़ादी की अमिट कहानी 'कालापानी'

□ डॉ० सोमदत्त दीक्षित

भारत भूमि पर, जब 16वीं शताब्दी में योरुप की औपनिवेशिक गिद्धदृष्टि पड़ी, तो खाड़ी के द्वीप भी अछूते नहीं रहे। पहले पुर्तगाल और बाद में हालैण्ड ने भारत भूमि में घुसपैठ करते हुए छोटे-मोटे युद्धों में पराजय देखी। चतुर एवं कपट-दक्ष ब्रिटिश ईस्ट इन्डिया कम्पनी की ओर से बर्तानिया के सम्राट के निवेदन पर, "साधारण व्यापार" के लिए मुग़ल सम्राट की आज्ञा प्राप्त करने में, सर थामस रो सफल हो गया।

कलकत्ता, मद्रास, बम्बई के निर्जन पर बहु-उपयोगी दूर-दराज के क्षेत्रों में अपनी शक्ति संजोते हुए भारतीय भू-भागों पर अंग्रेजों ने दृष्टिपात शुरू कर दिया। फ्रांस के ड्यूमा व डुप्ले की देखा-देखी सैन्य शक्ति से क्लाईव ने अंग्रेजों के लिए 1757 ई० तक बंगाल, बिहार, उड़ीसा की अधीशता प्राप्त कर ली। उधर पुर्तगालियों ने अण्डेमान द्वीप समूह में पैर जमाने के बाद इन्डोनेशिया के समृद्ध द्वीपों को जीतना शुरू कर दिया था। तब तक हालैण्ड वालों ने अण्डेमान-निकोबार समेत इन सभी द्वीपों पर अपना कब्जा कर लिया। पर अंग्रेजों ने शीघ्र ही बंगाल की खाड़ी के अण्डेमान-निकोबार वाले पांच सौ से अधिक द्वीपों से उच्च लोगों को खदेड़ बाहर किया। अंग्रेजों का पूरा ध्यान अब भारत पर केन्द्रित था। कप्तान ब्लेयर ने 1789 में अण्डेमान में बन्दी बस्ती बनाई पर 1796 में यह बस्ती बन्द हो गई।

ब्रिटेन के सजायाफ्ता बन्दियों को बसाने के लिए आस्ट्रेलिया में औपनिवेशिक बस्तियां बसाई जा रही थीं। पर वे भारतीय और गोरे बन्दियों को एक साथ बसाने के पक्ष में नहीं थे। अपनी भावी दूरगामी योजनाओं को ध्यान में रख कर भारतीय बन्दियों के लिए अण्डेमान द्वीपों में एक बस्ती बसाने की योजना पर काम शुरू हो गया।

भारत का प्रथम स्वाधीनता संग्राम—1857 ई०

अपनी कूटनीति के बलबूते पर, 'आपस में भेदभाव बढ़ाओ और शासन करो' की नीति अपना कर अंग्रेज सफल होते रहे। एक भारतीय शासक की पीठ थपथपाते तो दूसरे को

परास्त करके वे अपना उल्लू सीधा करते रहे। जीते हुए क्षेत्र का भाग प्राप्त करके, वे जीतने वाले पर भी हावी होने लगे। अपना निजी और अपने पिट्ठुओं का भू-क्षेत्र विस्तृत करते हुए वे सारे देश में छा गए, दिल्ली के मुगल सम्राट का शासन लाल किले तक सीमित रह गया था। कश्मीर, पंजाब, अवध, हैदराबाद, मैसूर, बंगाल, बिहार आदि के देशी शासक अंग्रेजों की छत्रछाया के तले घुटने टेक चुके थे। झांसी की रानी लक्ष्मीबाई, मराठा सरदार तांत्याटोपे, कानपुर के नाना जी पेशवा लखनऊ में बेगम हजरत महल, बिहार में राजा नेतसिंह आदि ने बहादुर शाह जफर के नेतृत्व में अंग्रेजों के विरुद्ध देशव्यापी संगठन बनाने का प्रयास किया। मेरठ में अंग्रेजों की फौजी छावनी में मंगलपाण्डे ने, 185 ई० में जो मशाल जलाई थी, उसे घर के भेदियों और आस्तीन के सांपों ने मिलकर बुझा दिया। प्रमुख भारतीय स्वतन्त्रता सेनानी अंग्रेजी फौजों को छकाते हुए लगभग एक वर्ष के समय में वीरगति को प्राप्त हो गए। ग्राम-ग्राम कस्बे-कस्बे में अगणित लोगों को वृक्षों के ऊपर लटका कर फांसी दे दी गई।

परन्तु वन्दे मातरम् और स्वतन्त्रता की न बुझने वाली ज्वाला भड़क उठी थी। नित नए रण बांकुरे स्थान-स्थान पर उदय हो रहे थे। आखिर कितनों को गोली से छलनी किया जाता, और कितनों को फांसी पर लटकाया जाता। अंग्रेजों को भगा देने की मुहिम तो बन्द होने वाली नहीं थी। बागी अथवा विद्रोही के रूप में आजादी के दीवानों को कलकत्ते अथवा मद्रास अथवा विशाखापटनम के लगभग बारह सौ किलोमीटर की दूरी पर दक्षिणी अण्डेमान में निर्वासित करने का राजनैतिक निर्णय, ब्रिटिश शासन द्वारा ले लिया गया। सन 1858 से 1860 ई० के बीच लगभग चार हजार कैदी जलयानों में ठूंस कर पोर्ट ब्लेयर भेज दिए गए।

घने वनों से आच्छादित गहरे समुद्र के नीले जल से घिरे द्वीपों में नागों, बिच्छुओं, कनखजूरों के प्राणघाती विष से बच कर कौन भारत की पुण्य भूमि पर लौट सकता था? प्राकृतिक कारागार, न्यूनतम खर्चा, कष्टमय जीवन, कम से कम देख-रेख में प्रारम्भिक अधिकांश बन्दी भगवान को प्यारे हो गए। चारों ओर अथाह गहरा नीला जल देख कर हृदय दहल उठता था और यह यंत्रणा-स्थल कहलाने लगा "काला पानी"।

अपने सगे सम्बन्धियों, जान पहचान वालों से दूर इन ब्रिटिश राज-द्रोहियों को पहले मौलमीन (ब्रह्मा), पेनांग (मलेशिया), सिंगापुर की बन्दी बस्तियों में भेजने का प्रस्ताव था। बाद में इन्हें भयंकर अपराधी मान कर अलग बस्ती में रखना ही उचित समझा गया।

काला पानी के प्रथम 200 बन्दी डा० जे० पी० वाकर की देखरेख में 10 मार्च, 1858 को पोर्ट ब्लेयर पहुंचे थे। इन सबने अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह में भाग लिया था। इनमें मिर्जा गालिब के मित्र तथा स्वतन्त्र भारत के उस समय संविधान बनाने वाले मौलवी फजलुलहक (1797-1861) भी थे। उड़ीसा, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, पंजाब, मणिपुर, हैदराबाद, गुजरात, महाराष्ट्र आदि क्षेत्रों से अनेक रण बांकुरे अंग्रेजी फौज द्वारा गिरफ्तार करके काला पानी की सजा पर भेजे गए वहां उन पर मनमाने अत्याचार करके उन्हें गोली मार कर अथवा फांसी देकर मार दिया जाता था। 27 सितम्बर, 1867 को 14वीं बंगाल रेजीमेन्ट के सिपाही दूध नाथ तिवारी को झेलम के कमिश्नर ने फौज से भागने और गदर

में भाग लेने के लिए जंजीरों में जकड़ कर आजीवन काला पानी की सजा दी थी। 23 अप्रैल 1858 को वह अपने 90 साथियों के साथ रॉस द्वीप के जंगल में भाग गया जहां इनमें से अनेक आदि वासियों द्वारा मार डाले गए। शेष भूख से मर गए और घायल दूध नाथ को आदि वासी पकड़ कर ले गए, कालांतर में वह भी आदि वासी का जीवन जिया।

अबर्डीन का युद्ध, दि० 14 मई, 1859 को लगभग पन्द्रह सौ अण्डेमानी आदिवासियों ने अंग्रेजों पर धावा बोल दिया। दूध नाथ तिवारी ने इस आक्रमण की सूचना पहले से ही अंग्रेजों को दे दी थी। बहुत हानि के बावजूद ले० वार्डेन के नौसैनिकों और ले० हेलाडे के सैनिकों ने मिलकर आदिवासियों को भगा दिया। दूध नाथ तिवारी को माफी दे दी गई और उसे आदिवासियों का विशेषज्ञ मान लिया गया।

कष्ट इतने भारी थे कि अप्रैल, 1858 में 228 कैदियों ने भागने का प्रयास किया; जिनमें से 88 को एक दिन में ही फांसी दे दी गई। अन्य भूखे, प्यासे अथवा आदि वासियों द्वारा मार डाले गए। अनुमान करिए कि किस प्रकार पढ़े-लिखे जमींदार, शिक्षक, मौलवी, पंडित व सेना के अधिकारी बर्बरता के वातावरण में दुष्कर कार्य करते रहे होंगे। तब ये कठिन काम समझे जाते थे जंगल काटना, बैल के स्थान पर कोल्हू से तेल पेरना, सड़क बनाना, चट्टानें तोड़ना, ईंट व चूना तैयार करना, पेड़ से रबड़ निकालना आदि। डाक्टरों-मच्छरदानियों और भरपेट भोजन का प्रश्न ही नहीं उठता था। सारे दिन की मेहनत के बदले कैदी को पुराने सात पैसे और अब के ग्यारह पैसे का मेहनताना दिया जाता था। जीवन निर्वाह के लिए यह काफी समझा जाता था।

1858 के बाद यहां देश भक्तों का आना जाना लगा ही रहा।

वहाबी आन्दोलन (1860-70) में सीमा प्रान्त से लेकर देश के अनेक राज्यों से वहावी क्रान्तिकारी पकड़ कर काला पानी भेजे गए। इनमें से ही एक कैदी मुहम्मद शेर अली ने भारत के वाइसराय लार्ड मेयो की हत्या पानी घाट नामक स्थान पर 8 फरवरी, 1872 को कर दी। भारत के इतिहास में यह एकमात्र इतने बड़े अंग्रेज शासक की हत्या थी।

मद्रास सैनिक विद्रोह जून 1869 के 60 बन्दियों को निकोबार के कमोर्टा द्वीप में बन्दी बना कर रखा गया।

काल कोठरी कारागार (1896-1906) में विश्व-कुख्यात सेलुलर जेल बन कर तैयार हुई। यह किलेनुमा कारागार तीन मंजिलों वाली खरबूजे की फांकों की तरह सात भुजाओं में फैली हुई थी। मध्यवर्ती मीनार पर बनी सीढ़ियों द्वारा किसी भी मंजिल में पहुंचा जा सकता था एकतरफ़ के रहने वाले कभी दूसरी तरफ के कैदी के दर्शन भी नहीं कर सकते थे। इन 698 काल कोठरियों में रहने वाले सावरकर बन्धुओं को वर्षों तक वहीं रहने का पता तक नहीं चल सका। इसके बदनाम फांसीघर में एक साथ तीन लोगों को फांसी दी जा सकती थी। एक ही दिन में 80 लोगों को फांसी पर लटका दिया गया था। आज इनमें से केवल एकभुजा ही राष्ट्रीय स्मारक है।

"स्वराज" इलाहाबाद (उर्दू पत्रिका 1907-1910) तक स्वतन्त्रता के दीवाने **चार** सम्पादकों श्री होती लाल वर्मा, श्री राम हरि, श्री नन्दगोपाल और फील्ड मार्शल लद्धा राम कपूर को लगातार कालेपानी की सजा मिलती रही। इनकी नियुक्ति की शर्तों में 'मौत' **व** 'कालापानी' भी बता दिए जाते थे?

"युगान्तर" हिन्दी पत्रिका के सम्पादक श्री राम चरण लाल को भी उसी दौरान कालेपानी की सजा दी गई।

अलीपुर बम केस (1910) माणिक तल्ला षड्यंत्र के क्रान्तिकारियों सर्व श्री वारीन्द्र घोष, उल्हासकर दत्त को कालापानी मिला।

नासिक षड् यंत्र (1911) वीर विनायक दामोदार सावरकार को दोहरे आजीवन कारावास की सजा में काला पानी भेजा गया।

लाहौर षड्यंत्र (1915) के भाई सोहन सिंह, भाई परमानन्द, बाबा पृथ्वी सिंह आजाद आदि को पोर्टब्लेयर भेजा गया।

बर्मा षड्यंत्र (1916) क्रान्तिकारी पंडित परमानन्द, मुजतबा हुसैन व कपूर सिंह आदि को कालेपानी का दंड मिला।

मोपला विद्रोह (1921) ईसाइयों, अंग्रेजों व हिन्दुओं के विरुद्ध विद्रोह में 3000 मोपला विद्रोही, केरल से कालापानी भेजे गए।

रम्पा विद्रोह (1922-24) आन्ध्र प्रदेश के गिरिजनों को कालापानी की सजा हुई।

झांसी बम केस (1922-32) श्री विष्णुशरण दुबलिश व श्री लक्ष्मी कान्त शुक्ला आदि को कालेपानी से लिये दण्डित हुए।

आंध्र प्रदेशी विद्रोही (1925) अल्लूरी सीता राम राजू के क्रान्तिकारी अनुयायी को कालेपानी की सजा मिली।

थारावर्दी क्रान्ति, बर्मा (1930) के विद्रोहियों को कालापानी का दण्ड मिला।

चौरी चौरा काण्ड (1932-38) के द्वारका नाथ पाण्डे आदि को काले पानी से दण्डित किया गया।

काकोरी षड़यंत्र (,,) के शचीन्द्र सान्याल, कुन्दन लाल गुप्ता, जयदेव कपूर, शिव वर्मा, बटुकेश्वर दत्त व गया प्रसाद आदि बन्दी बनाए गए।

ढाका, इम्पीरियल बैंक (1932-38) में श्री बंगेश्वर राय आदि भी काला पानी भेजे गए।

चटगांव, सशस्त्र क्रान्ति (,,) के गणेश घोष, लोकनाथ बल आदि को कालापानी भेजा गया।

महुआ बाजार बमकेस (1932-38). **सियालदाह डकैती केस व समन सिंह काण्ड** के क्रान्तिकारी कालापानी भेजे गए।

मद्रास के क्रान्तिकारी श्री अभयंकर व टी० एस० शिवम सेलुलर जेल लाए गए।

पटना बमकेस, गया केस व मलौनिया (चम्पारन) काण्डों के कैदी काला पानी भेजे गए।

भूख हड़ताल (1933) 46 दिन की भूख हड़ताल में काला पानी से 4 कैदी मर गए।

भूख हड़ताल (1937) 230 कैदियों द्वारा 35 दिन की भूख हड़ताल। 29-8-37 को म० गांधी व कवीन्द्र रवीन्द्र के आग्रह पर समाप्त हो गयी।

जापानी शासन :—

23 मार्च, 1942 को जापानी सैनिकों ने बिना गोली चलाए 12 घन्टों में द्वीपों की सत्ता सम्हाल ली। अंग्रेज मुख्य आयुक्त वाटरकाल को बन्दी बना लिया। सेलुलर जेल के सभी बन्दी मुक्त कर दिए गए।

5 जुलाई, 1943 को नेता जी सुभाष चन्द्र बोस ने आज़ाद हिन्द फौज का गठन किया। **29 दिसंबर, 1943** को नेता जी का स्वागत हवाई अड्डे पर जापानी सेनापति इशीकिवा ने किया।

30 दिसम्बर, 1943 को जिमखाना मैदान में नेता जी ने स्वराज्य व शहीद द्वीपों (अण्डेमान निकोबार द्वीप समूह) में स्वतंत्र भारत के तिरंगे झण्डे का ध्वजारोहण किया। 17 फरवरी, 1944 को आजाद हिन्द फौज के कर्नल लोकनाथन ने प्रथम भारतीय प्रशासक के रूप में, औपचारिक ढंग से, अण्डेमान निकोबार द्वीप समूह का शासन संभाल लिया। पर 7 अक्तूबर 1945 को जापानी फौज ने ब्रिटिश फौज के सामने आत्म समर्पण कर दिया।

15 अगस्त, 1947 को ये द्वीप स्वतंत्र भारत में 'ग' वर्ग का राज्य बन गए। परन्तु इन द्वीपों ने सारे राष्ट्र के समक्ष अनेक उत्कृष्ट आदर्श प्रस्तुत किए हैं यथा अहिन्दी भाषी देश भक्तों द्वारा हिन्दी को सामान्य रूप में अपनाकर सांस्कृतिक एकता का ठोस आधार प्रस्तुत किया है। यहां एक ही परिवार में कई धर्मावलम्बी प्रेम से रहते हैं। आज तक कभी दंगे नहीं हुए। □

मतभेद भुला कर किसी विशिष्ट कार्य के लिये सारे पक्ष का एक हो जाना ज़िंदा राष्ट्रों का लक्षण है। - बाल गंगाधर तिलक

साम्प्रदायिक सद्भावना स्वाधीनता के संदर्भ

□ डा० शीलम वेंकटेश्वर राव

भारत एक ऐसा उपवन है जिसमें विभिन्न जातियों, धर्मों, सम्प्रदायों, संस्कृतियों और विभिन्न भाषाओं के पेड़-पौधे विद्यमान हैं। प्रत्येक जाति, धर्म, सम्प्रदाय, संस्कृति और भाषा की अपनी-अपनी विशेषताएं हैं। उपवन में विद्यमान पेड़-पौधे, लताएं, फल-फूल जिस प्रकार उसकी शोभा बढ़ाते हैं, उसी प्रकार प्रत्येक जाति, धर्म, सम्प्रदाय, संस्कृति भारत देश के गौरव-गरिमा में वृद्धि करते हैं। इसी लिए हमारे देश की संस्कृति इन्द्र धनुषी कहलाती है। ये समस्त विशेषताएं एक-दूसरे में इस प्रकार घुलमिल गई है कि लगता ही नहीं कि भारतीय संस्कृति अनेक संस्कृतियों का एक समूह है। देश की समस्त नदियां जिस प्रकार समुद्र में मिलकर एक विराट रूप की सृष्टि करती हैं, उसी प्रकार विभिन्न संस्कृतियां परस्पर भारतीय संस्कृति को विराटता प्रदान करती हैं। इस भारतीय संस्कृति की सब से बड़ी विशेषता यही है कि अनेकता में एकता को अपने भीतर समेटे हुए है। उसकी आत्मा और संस्कृति एक है।

जब हम धर्मों की चर्चा करते हैं तो हमें स्वामी विवेकानन्द जी के प्रेरक-सन्देश की याद हो आती है। उन्होंने विश्व के सभी धर्मों को पवित्र और उन सब का लक्ष्य भी एक ही बताया था। यद्यपि उपासना की पद्धतियां अलग-अलग हो सकती हैं, परन्तु उनका अन्तिम लक्ष्य एक ही है — ईश्वर से साक्षात्कार ईश्वर-मिलन या ईश्वर के दिव्य ज्ञान की उपलब्धि। जिस प्रकार विभिन्न नदियां अलग-अलग मार्गों से प्रवाहित होकर अन्त में समुद्र में विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार सब धर्मों का लक्ष्य एक ही है—ईश्वर प्राप्ति।

हमें यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि सभी धर्म पवित्र और समान हैं, ये सभी धर्म हमारे लिए आदर एवं श्रद्धा के योग्य हैं।

सभी धर्मों के भीतर प्रवाहित होने वाली ज्ञान की धारा भी एक ही है। जिस प्रकार कामधेनु के चारों स्तनों से नि:सृत होने वाली अमृत की धारा एक ही होती है, उसी प्रकार सभी धर्मों में विद्यमान ज्ञान की धारा एक ही है। सभी धर्म अहिंसा, दया, नैतिकता, सत्य और ईमानदारी और परस्पर भाईचारे का पाठ पढ़ाते हैं, कोई भी धर्म मानव को अधर्म नहीं सिखाता।

साम्प्रदायिक सद्भावना के क्षेत्र में भारत की महत्वपूर्ण भूमिका है। शिकागो के विश्व सर्व धर्म सम्मेलन में स्वामी विवेकानन्द जी का भाषण एक ऐतिहासिक भाषण रहा। उन्होंने विश्व-समुदाय की आंखें खोल दीं और धर्माचारियों के "अहं" को निर्मूल कर दिया था। इस क्षेत्र में भारतीय सन्तों, महात्मा गांधी जी, आचार्य विनोवाभावे के योगदान को विस्मृत नहीं किया जा सकता।

साम्प्रदायिक का अर्थ है किसी विशेष सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखने वाला। सद्भावना का अर्थ है — अच्छी भावना, मेलजोल, मैत्री, निष्कपटभाव, सहिष्णुता, उदारता और आत्मीयता आदि। साम्प्रदायिक सद्भावना का अर्थ होता है अन्य सम्प्रदाय-धर्मों के प्रति आदर भावना रखना।

साम्प्रदायिक सद्भावना के विपरीत साम्प्रदायिकता का अर्थ होता है जो केवल अपने सम्प्रदाय की श्रेष्ठता तथा हितों का विशेष स्थान रखना, संकुचित दृष्टिकोण और दूसरे धर्मों के प्रति ईर्ष्या-द्वेष भाव रखना आदि।

किसी भी देश की एकता, अखण्डता और उसके सर्वतोमुखी विकास के लिए साम्प्रादायिक सद्भावना की आवश्यकता होती है। विशेषकर लोकतांत्रिक देशों में इसका और भी महत्व बढ़ जाता है, क्यों कि हर नागरिक को अपने-अपने धर्म के पालन करने और विचाराभिव्यक्ति की स्वतंत्रता रहती है। यदि इस अधिकार का दुरुपयोग हो जाता है तो समाज और देश को संकट पैदा हो जाता है।

हमारे देश में अंग्रेज़ों के आने से पहले साम्प्रादायिक सद्भावना व्याप्त थी। साम्प्रदायिक दंगे कभी भी नहीं होते थे, परन्तु अंग्रेजों ने अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए "फूट डालो—शासन करो" नीति का अनुसरण किया और देश के वातावरण में साम्प्रदायिक जहर को घोल दिया। साम्प्रदायिक दंगे जगह-जगह भड़क उठे। फलत: देश का विभाजन हो गया। आज भी विदेशी शक्तियां साम्प्रदायिक आग को भड़काने के षड्यंत्र रच रही हैं। धर्म का जो विकृत रूप आज हमारे सामने है वह देश को पतन के गर्त में ले जा रहा है। वास्तव में धर्म एक है, ईश्वर एक है, उसके मानने वाले ही अपनी अज्ञानता के कारण एक दूसरे के विरोधी बन गये हैं। वास्तव में दुराग्रह, कट्टरवादिता, संकीर्णता, धर्मान्धता, अहंकार आदि ऐसे दुर्गुण हैं जो पवित्र

धर्म की आत्मा को कलंकित करते हैं। धर्म का मुख्य रूप सहजता और हृदय का औदार्य होना चाहिए न कि छल-कपट और आडम्बर। धर्म या सम्प्रदाय को साम्राज्यवाद का हथियार नहीं बनाया जाना चाहिए। सच्चा धर्म तो वही है जो मानव-व्यवहार में शुचिता और निश्छलता का संचार करे। मानव, मानव को एक-दूसरे से जोड़े और आपसी भाईचारगी को बढ़ाये।

साम्प्रदायिक सद्भावना एक ऐसी प्रबल शक्ति है जो मानव को एक सूत्र में बांधती है और मानवता की गौरव-गरिमा को बढ़ाती है तथा प० नेहरू जी के अनुसार "जीयो और जीने दो" का प्रेरक सन्देश देती है। ▫

स्वाधीनता के पांच दशक और राष्ट्र भाषा हिन्दी

□ विष्णु प्रभाकर

आज़ादी की स्वर्ण जयन्ती किसी भी देश के लिए गर्व का विषय हो सकती है। साथ ही वह यह अवसर भी प्रदान करती है कि हम आत्मभावलोकन करते हुए, जहां एक ओर उपलब्धियों पर गर्व करें, वहां अपनी भूलों का कारण भी ढूंढ़ें। इस समय जो देश में भ्रष्टाचार का दावानल दहक रहा है, वह कभी नहीं दहकता यदि हम गांधी जी की बात को अस्वीकार न कर देते। उन्होंने आत्ममंथन की बात कही थी, उसको हमने अध्यात्म के साथ जोड़ कर ठुकरा दिया और उसी का परिणाम हम आज भुगत रहे हैं।

लेकिन मैं इस लेख में एक और प्रश्न पर विचार करना चाहता हूं, वह है किसी समय राष्ट्र भाषा का विरोध पाने वाली सम्पर्क भाषा हिन्दी। आज इस देश की सभी भाषाएं राष्ट्र भाषाएं कहलाती हैं। मातृभाषा के रूप में हिन्दी भी राष्ट्र भाषा है। लेकिन जब वह सारे देश की भाषा बनती है तो वह सम्पर्क भाषा कहलाती है। हमारी राष्ट्रभाषा हिन्दी सारे देश की सम्पर्क भाषा है।

भाषा एक जीवन्त तत्व है, इस लिए सतत गतिमय भी है। हर भाषा की अपनी कुछ विशेषताएं होती हैं, और यह भी कि हमारे विशाल देश में अनेक रूप हो सकते हैं। लेकिन जिसे हम सम्पर्क भाषा या राजभाषा कहते हैं; उसका कोई न कोई मानदण्ड हमें स्थापित करना होगा। वही मानदण्ड जिसे हम देश और विश्व के सामने प्रस्तुत कर सकें। अब तक ऐसा हो नहीं सका। इसके अनेक कारण हैं। यह मान लेने में हमें कोई आपत्ति नहीं कि देश के भीतर सम्पर्क भाषा हिन्दी का जो विरोध है, उसका मुख्य कारण राजनीति है। विरोध करने वालों में वे लोग भी हैं जो जीवन भर अंग्रेज़ी के माध्यम से सोचते रहे और अब इस जीवन संध्या में उनके लिए नया पाठ पढ़ना सुविधाजनक नहीं है। इसलिए वे सम्पर्क भाषा हिन्दी के विरुद्ध नाना प्रकार के अनर्गल आरोप लगाते रहते हैं। जैसे कि हिन्दी वाले साम्राज्यवादी हैं, हिन्दी भाषा की वर्तनी कठिन है। हिन्दी साहित्य समृद्ध और उन्नत नहीं है। वे गलत हो सकते हैं। लेकिन हम तो निश्चित रूप से गलती

करते रहे हैं। यदि हमने उदारता और सावधानी के साथ व्यवहार किया होता तो इस स्थिति का निश्चय ही निराकरण किया जा सकता था। हम और वे दोनों भाषा शब्द के चारों ओर उमड़ते-घुमड़ते रहे और देश हमारी दृष्टि से ओझल हो गया, फिर उलझनें पैदा हुईं।

जिनकी मातृभाषा हिन्दी है, उन्हें यह बात स्वीकार करनी होगी कि अनजाने-अनचाहे उन्होंने अति उत्साह में ऐसे काम किये, जिनके कारण हिन्दीतर भाषा-भाषियों के मन में शंका और भय पैदा हो गया। टैगोर की एक कविता की प्रारम्भिक पंक्तियों का अर्थ है—'मैं अपने रूप के गर्व से तुम्हें नहीं जीतूंगी, जीतूंगी अपने प्रेम न्यौछावर से"। किसी को जीतने का इससे सुन्दर साधन और कोई नहीं हो सकता। पर हम हिन्दी भाषी लोभ प्रमादवश इस मंत्र को भूल गए। हिन्दी सम्पर्क या राजभाषा बनी, यह उनकी विजय नहीं थी। यह तो भारत की दूसरी राष्ट्र भाषाओं का स्नेह और सद्भाव था जो उन्होंने मेरी मातृ भाषा को दिया। किसी एक को तो यह सम्मान मिलना ही था, हिन्दी उसकी सबसे अधिक अधिकारिणी थी। इसलिए नहीं कि वह अधिक समृद्ध थी, बल्कि इसलिए थी कि दूसरी राष्ट्रभाषा वालों ने ही स्वयं उसकी खोज की थी।

हम बराबर यह मानते आए हैं कि राजभाषा या सम्पर्क भाषा हिन्दी के प्रचार और प्रसार का दायित्व हिन्दी वालों पर नहीं है। वह उन हिन्दीतर भाषा-भाषियों पर है, जिन्होंने उसका आविष्कार किया था, पर यही हमने नहीं किया। परिणाम यह हुआ कि तमिलनाडु में ही नहीं, बल्कि बंगाल में भी हिन्दी के प्रति उग्र विरोध उमड़ उठा। उस बंगाल में जिसके महान सपूतों ने केशव चन्द्र सेन ने, ईश्वर चन्द्र विद्यासागर ने, बंकिम चन्द्र ने, भूदेव मुखर्जी ने, न्यायमूर्ति शारद चरण मित्र ने और विश्व कवि रवीन्द्र नाथ ठाकुर ने हिन्दी भाषा और लिपि को भारत की एकमात्र राष्ट्रभाषा और लिपि घोषित किया था। तमिलनाडु और बंगाल आदि प्रान्तों में मैं कई बार गया हूं और पाया है कि हिन्दी का वास्तविक विरोध कहीं नहीं है। विरोध उस वातावरण और उन परिस्थितियों का है, जो नारेबाजी के कारण पैदा हो गई थी। नहीं तो सभी प्रान्तों ने इस बात को स्वीकार किया—'सम्पर्क भाषा तो हिन्दी ही हो सकती है, पर अभी भी उनके लिये एक कालान्तर अपेक्षित है'।

इस तर्क के पीछे कई कारण थे—राजनीतिक, आर्थिक और मनोवैज्ञानिक। इसके लिए करने का एक मात्र अर्थ है बजट बनाना और जैसे-तैसे खर्च करना। राजनीति में सत्ता लोलुपत्ता अधिक रहती है और सत्ता हमेशा मनुष्य को भ्रष्ट करती है।

आशा तो हम अपने से भी नहीं रख सके। सम्पर्क भाषा हिन्दी का प्रचार और प्रसार करना जैसा हमने कहा हमारा काम नहीं था। हमारा काम था उन भाषाओं में जो विशेषताएं हैं, उनको रेखांकित करते, उनमें जो रत्न हैं, उनको अपनी भाषा में स्वीकार करते। इससे भी आगे बढ़कर हमें एक और काम करना था कि हम उनकी मां को प्यार करना सीखते। जो दूसरे की मां को प्यार नहीं कर सकता, वह अपनी मां को भी प्यार नहीं कर सकता। जननी अपने जाये को प्यार करती है, लेकिन मां सब के जायों को प्यार करती है, हमें इसी मां की भूमिका अदा करनी थी।

एक और काम हम कर सकते थे कि उन प्रदेशों के महापुरुषों और महान नारियों को अपनी भाषा में आदर का स्थान देते। हम बड़े गर्व से कहते हैं कि भारत एक है। लेकिन क्या हम जानते हैं कि 1857 में झांसी की रानी आज़ादी के लिए अपने प्राणों का विर्सजन करके अमर हो गई। लेकिन उससे भी पहले कर्नाटक में किन्नूर की रानी चेनम्मा ने जो काम किया था, वह तो अद्भुत था। इसी तरह केरल में वेलूत्रम्पी दलवा के लार्ड वेलज़ली के विरुद्ध जो संघर्ष किया, उसकी अद्भुत कहानी की ओर किसी का ध्यान क्यों नहीं गया। ऐसे सभी प्रान्तों के अनेक उदाहरण हमारे सामने हैं। पर हिन्दी भाषा-भाषियों ने उन्हें खोजने का प्रयत्न क्यों नहीं किया। दूसरे की मां को प्यार करने का यही अर्थ है। है! इससे भी बढ़कर एक देश की कल्पना की रूपरेखा हमारे अन्तर में विकसित हो उठती।

तब हिन्दी के विरुद्ध भारत के किसी भी कोने से एक शब्द भी नहीं उठता। जो महत्वपूर्ण बात हम कहना चाहते थे, वह तो इतनी ही है। पर एक और बात पर ध्यान देना आवश्यक है। शब्दों का निर्माण करने में न जाने कितना धन खर्च कर दिया हमने, पर उसके पासंग भी सही दृष्टि का उपयोग किया होता तो इतनी परेशानी न होती। न हम गांव में गए, न प्रान्तीय भाषाओं के शब्द भण्डार की खोज की, इसीलिए जीवन्त शब्दों के स्थान पर बनावटी शब्दों से कोश भरते रहे। विश्व के इतिहास को उठाकर देखें, जब-जब कोई देश स्वतंत्र हुआ है, उसने सबसे पहले अपनी मातृभाषा की खोज की है, और उसके लिए वह गांव में गए हैं। गांव के वे अनपढ़ लोग कैसी प्यारी भाषा का प्रयोग करते हैं, यह उस भाषा को सुनकर ही अनुभव किया जा सकता है। मेरे प्रदेश के एक किसान के अपने बच्चे से कहा गया यह वाक्य कितना मधुर और अर्थगर्भित है—'लल्ला, तेरी दोस्ती तो पण्डित जी से चार घंटे में ही गदराय गई'। आम और अमरूद जब पकते हैं, तब उनमें रस भरता है, उसी को गदराना कहते हैं।

ऐसी भाषा के स्थान पर हमने जिस भाषा का निर्माण किया, उसका उदाहरण भी देखिए—'उस समय कुमारी कौशल्या को मैंने स्वत: के परिज्ञान से अनुभव किया कि वह पूर्णतया सचेतन अवस्था में परिलक्षित हुई ...उसने मुझसे यह अभ्यर्थना प्रकट की...... मैंने तब प्रकोष्ठ की परिचारिका से कहा कि वह तद्प्रकोष्ठ के चिकित्सा अधिकारी को आहत किया जाए, किन्तु किन्हीं अज्ञान कारणों के पराभव से मैं यथासमय सुयोग चिकित्सा अधिकारी के दर्शन लाभ से वंचित रहा। मेरे न्यायिक स्व-विवेक ने फिर इस गम्भीर उत्तरदायित्व को स्वत: संवहन करने हेतु विवश किया।'

यह भाषा क्या सचमुच भाषा है? भाषा के प्राण सहजता में बसते हैं। सहजता निर्माण से नहीं आती, वह दृष्टि और चयन से आती है। चयन के लिए जीवन का अक्षय भण्डार चारों ओर बिखरा पड़ा है। सबल और उदार राष्ट्र ही, सबल और उदार भाषा का प्रयोग करते हैं। शब्द मुख से नहीं, हृदय से निकलते हैं। कानून और संविधान किसी भाषा को गले के नीचे नहीं उतार सकते।

हिन्दीतर भाषियों की शंका को बल देने के लिए हमने संविधान द्वारा स्वीकृत अन्तर्राष्ट्रीय अंकों को भी स्वीकार करने से इंकार कर दिया था।

भाषा और साहित्य का आदान-प्रदान जिसकी ओर हमने ऊपर इंगित किया है, वह केवल भाषा के संदर्भ में ही नहीं, जीवन के सन्दर्भ में भी शक्ति देने वाला है। संस्कृति के विकास प्रसार और समृद्धि का यह एक महत्वपूर्ण साधन है। देश की आन्तरिक स्थिति के संदर्भ में ही नहीं, विश्व हिन्दी सम्मेलन के संदर्भ में तो इसकी उपादेयता और भी स्पष्ट है। वे लोग हिन्दी दो कारणों से सीखते हैं। राजभाषा होने के कारण और समृद्ध साहित्य की वाहिका होने के कारण भाषा के माध्यम से ही किसी देश की आत्मा को पहचाना जा सकता है। जिसे देश का प्रबल बहुमत बोलता, समझता है, जो विश्व की सबसे अधिक बोली जाने वाली भाषाओं में से एक है, उसकी संस्कृति उसके साहित्य में ही तो परिलक्षित हो सकती है। उस साहित्य के सृजन का दायित्व हम सब पर है, समूचे देश पर है।

तो स्वतंत्रता की स्वर्ण जयन्ती मनाने के शुभ अवसर पर देश को ही नहीं बल्कि इस देश को और देशों से जोड़ने वाली जो भाषा है, उसको उसके अधिकार के पद पर प्रतिष्ठित करने के लिए हमें विवेक से काम लेना पड़ेगा। प्रेम से काम लेना पड़ेगा। राजनीति विवेक और प्रेम की शत्रु है. और संस्कृति उनकी आधारभूमि। भाषा और साहित्य संस्कृति के वाहक हैं। उसी भाषा को हमें आदान-प्रदान और स्नेह सहिष्णुता से सुदृढ़ करना होगा। विराट का वरण करने के लिए 'भूमा' की साधना करनी होती है। सुख उसी में है, 'अल्प' में नहीं। 'स्व' के स्थान पर 'पर' को महत्व देने का अर्थ भी यही है।

इस मंत्र को यदि हम साध लें तो न केवल भाषा की समस्या हल हो सकती है, बल्कि भ्रष्टाचार का दावानल भी शान्त हो सकता है। □

स्वाधीनता संग्राम में भारतीय कविता की भूमिका

□ प्रो॰ पृथ्वीनाथ मधुप

गुलामी की लौह श्रृंखलायें तोड़ फेंकना किसी पत्ते की ढेंपनी तोड़ फेंकना नहीं है। इसके लिये लोहे के चने चबाये थे असंख्य हुतात्माओं ने जिस के लिये उन्हें प्रेरित किया अनगिनत कलम वीरों ने, उन कवियों ने जिन्होंने भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम मे जूझने वालों में स्फूर्ति, जोश तथा साहस भरा और इस आंदोलन को ऊर्जा प्रदान की। हर सन्तान माँ की चरण-धूलि का माथे पर तिलक करना चाहती है। माँ के लिए अपने प्राणों तक का उत्सर्ग करना चाहती है। भारत माता हम सब की माँ है—इसी की गोद में हम पले बढ़े हैं। सुब्रह्मण्यम भारती ने कहा —

अम्मैये ! अप्पा ! ओप्पिला मणिये

यानि—माता ! पिता ! अनुपमित मणि है ! सुमित्रानन्दन पन्त ने भारत माता को गांवों में बसने वाली कह कर इसकी पावन और भोली छवि का अंकन किया है और साथ ही गांवों में बसने वाली जनता की भावनाओं को भी शब्द दिये हैं—

भारतमाता ग्रामवासिनी
खेतों में फैला है श्यामल
धूल भरा मैला-सा आंचल
गंगा-यमुना में आंसू जल
मिट्टी की प्रतिमा उदासिनी।

अनेक भारतीय कवियों ने भारत-माता की महानता का बखान किया है और इसकी वन्दना की है। इस सन्दर्भ में कवि सुब्रह्मण्यम भारती की दो कविताओं की निम्न पंक्तियों को उद्धृत करना समीचीन जान पड़ता है। 'वन्दे मातरम्' तथा 'भारत माता की प्रभाती' शीर्षक

कविताओं की निम्न पंक्तियां देखिये—

जिस अमर धूलि में मेरी मैया पली,
जो रही मेरे बापू की क्रीडास्थली,
शत-सहस्र पूर्व-पुरुषों की जो जन्म-भू
शत-सहस्र पूर्व-पुरुषों की जो कर्म-भू
उन मनीषी-जनों से समाहत हुई
भूमि जो वन्दना आज उसकी करूं
मान उसका करूं, ध्यान उसका धरूं,
'वन्दे मातरम्, वन्दे मातरम्'
हर्ष से गा उठूं, 'वन्दे मातरम्'*

तथा—

...दिङ्-मंडल नामामृत-कीर्तनमय है,
विज्ञ विप्र वेद-पाठ में तन्मय है
अमृतमयी जननि, तुम्हारी जय-जय है
उठो-उठो जागो माँ! प्रात समय है।*

यही महिमामयी-वन्दनीय माँ गुलामी की जंजीरों में जकड़ी हुई है। इस जकड़न से इस की कैसी दुर्दशा हुई है। अनेक कवियों ने इस ओर इंगित कर भारतीयों को माँ की ये लोह-शृंखलाएं तोड़ने तथा इसकी दुर्दशा को दूर करने के लिए प्रेरित किया है। इस दुर्दशा का ज़िम्मेवार गुलामी का दौर है। इसी दुर्दशा की चुभन भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के मन में पल कर 'भारत-दुर्दशा' नामक नाटक के रूप में व्यक्त हुई। कवि सभी भारतवासियों को मिल कर आंसू बहाने का आमन्त्रण देते हैं। आंसू बहाना केवल आंसू बहाने के लिये नहीं अपितु इस आमन्त्रण में मिल-बैठ कर एक होकर इस दुर्दशा से छुटकारा पाने के लिए निमंत्रण है। वे कहते हैं—

आवहुं मिलि कर रोवहुं भारत भाई
हा! हा!! भारत दुर्दशा देखि न जाई

मैथिलीशरण गुप्त भी भारत लक्ष्मी के बन्धनों में जकड़े हुए होने की बात करते हैं। यह लक्ष्मी साधारण मानव द्वारा पहनाई गई शृंखलाओं में आबद्ध नहीं हैं बल्कि ये शृंखलाएं राक्षसों द्वारा पहनाई हैं अत: इनकी विकट कसन और भारीपन का अनुमान लगाकर पहनने वाली के कष्ट और वेदना का अन्दाज़ा सहज ही लगाया जा सकता है—

भारत लक्ष्मी पड़ी राक्षसों के बन्धन में
सिन्धु पार वह बिलख रही है, व्याकुल मन में।

---

*'भारती की कविताएं', अनु० : श्रीमती आनन्दी रामनाथन,

कवियों की इस तरह की कविताओं से प्रेरणा पाकर भारतीय जनमानस भारत माता की व्यथा को हरने के उपाय सोचने लगा। वह अनेक प्रकार के श्रृंगारों से माँ की उदास आकृति को सवांरने-सजाने की फिक्र भी करने लगा। सम्भवत: इसीलिए एक मगही लोक गीतकार अनायास ही कह उठे—

भारत माता हे, सोनवे पूजब तोहर पांव।
टीका झुमका फूल बनाएब, नथिया अच्छत बनाएब।
हंसुरी सिकरी आसन बिछुआ सिंघासन बइठाइब।
तोहर देल सोना अभरनवा तोहरे देव चढ़ाइब॥

हमारी धरती उन विदेशियों की नहीं जिन्होंने हमें गुलाम समझ कर हमारी इस धरा पर कब्जा जमा रखा है। यह हमारी धरती है और इसके मालिक हम ही हैं। इस तरह के भाव स्वतन्त्रता-संग्राम के दौरान छप रहे एक क्रांतिकारी अखबार पयामे आजादी में एक कविता के रूप में कूदे थे। इस अखबार की एक प्रति लंदन के ब्रिटिश म्यूज़ियम में है—

हम हैं इसके मालिक यह हिन्दोस्तान हमारा,
पाक वतन है कौम का, जन्नत से भी प्यारा।

बिल्कुल यही भाव एक कुमाऊंनी लोक गीत की निम्न पंक्तियों में व्यक्त हुए हैं, जो इस बात की तस्दीक करता है कि भारत के जनसाधारण के मन में यह भाव घर कर गया था कि हिन्दोस्तान की धरती और आकाश हमारा है। इस पर विदेशियों ने जो अनैतिक रूप से कब्ज़ा कर रखा है इस कब्ज़े से हमें अपनी धरती को मुक्त करना चाहिए—

यो हमारि छू धरती हमार छ: आकाश।
ल्वोकि गाड़ बगैरबेर, करो आज़ाद॥

हमारी धरती को कब्ज़ा कर विदेशियों ने हमारे धन को लूटा, हमारी अर्थव्यवस्था को तार-तार कर दिया। हम दाने-दाने के लिये मोहताज हो गये। आर्थिक रूप से ही नहीं सांस्कृतिक रूप से भी विदेशियों ने हमें लूट लिया। कुछ ऐसे चक्कर चलाये कि हम अपनी संस्कृति से दूर होते गये। हमारे इतिहास को तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत किया और भारत की नई पीढ़ी के अन्दर हीनभावनाएं भर दीं। इस लूट से बचने के लिये ज़रूरी है कि गुलामी की शृंखलाएं तोड़ दी जाएं और अपने प्यारे वतन को बचा लिया जाए—

लूटा दोनों हाथ से प्यारा वतन हमारा
आज शहीदों ने है तुमको अहले वतन ललकारा
तोड़ो गुलामी की जंजीरें बरसाओ अंगारा......

प्यारे वतन को विदेशी हकूमत के पंजों से छुड़ा कर ही बचाया जा सकता है और यह काम जितनी जल्दी हो उतना ही अच्छा है। इसीलिए भारतेन्दु हरिश्चन्द्र अपनी विजय पताका लहराने और म्यान से तलवार खींच कर रनरंग जमाने के लिये वीरों का आह्वान

कर रहे हैं—

चलहु वीर उठि तुरत सबै जय ध्वजहि उड़ाओ।
लेहि म्यान सों खड्ग खींचि रनरंग जमाओ।

ये काबिज़ अत्यन्त नीच हैं इनकी ताकत भारी नहीं है। क्या कभी शेर के आगे युद्ध में कुत्ता ठहर सकता है?

तौ ये कितने नीच कहा इन को भल भारी।
सिंह आगे कहुं स्वान ठहरि हैं समर मंझारी॥

इस प्रकार कवियों ने भारतीयों को अपने अन्दर के बल से परिचित कराया। उनके अन्दर सोये वीर को झकझोर कर जगाया। सूर्यकांत त्रिपाठी निराला की कविता 'जागो फिर एक बार' ने करोड़ों भारती युवकों को अपने अन्दर की शक्ति से साक्षात्कार कराया—

पशु नहीं वीर तुम......
शेर की मांद में सियार आ गया है
ज़रूरत जगने भर की है
शेरों की मांद है—
आया है आज सियार
जागो फिर एक बार!

कवि रामधारी सिंह 'दिनकर' भी हिमालय के बहाने भारतवसियों को जागने के लिये कहते हैं क्योंकि यह समय ऐसा है जिसमें तपस्या को छोड़ कर नये युग की शंख-ध्वनि को सुनकर युगानुरूप कदम उठाने की आवश्यकता है—

तू मौन त्याग कर सिंहनाद, रे तपी आज तप का न काल।
नवयुग शंख-ध्वनि जगा रही, जाग-जाग मेरे विशाल।

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' भी इसी स्वर में स्वर मिलाते हुए अत्याचारियों के विरुद्ध भारतीय जनशक्ति को उद्‌बोधित करते हुए कहते हैं—

ओ भिखमंगे, अरे पतित तू ओ मज़लूम अरे चिरदोहित।
तू अखण्ड भण्डार शक्ति का जाग अरे निद्रा सम्मोहित।
प्राणों को तड़पाने वाली हुंकारों से जल-थल भर दे।
अनाचार के अम्बारों में अपना ज्वलित पलीता धर दे।

भारतीय जन जाग पड़े। उन्होंने भारत माता को मुक्त कराने की ठान ली। मातृ-भूमि को बिना बलिदान दिये मुक्त नहीं किया जा सकता। कवि सोहनलाल द्विवेदी ने मानो

स्वतन्त्रता के मतवालों को सुनाते हुए घोषणा की कि—

आंसू बिखराते बीतेगी जलती जीवन घड़ियां
बिना चढ़ाये शीश नहीं टूटेंगी मां की कड़ियां

भारती युवकों-युवतियों के मनों में विद्रोह की प्रबल भावना भर कर स्वाधीन होने की ललक को और भी प्रचण्ड करने तथा प्यारी मातृ-भूमि की कड़ियां तोड़ने के लिये उस पर अपनी जान न्योछावर करने की प्रेरणा कवयित्री सुमित्रा कुमारी चौहान ने निम्न शब्दों में दी—

सुनूंगी माता की आवाज़
रहूंगी मरने को तैयार
कभी भी उस वेदी पर देव
न होने दूंगी अत्याचार
चलो मैं हो जाऊं बलिदान
मातृ मन्दिर में हुई पुकार
चढ़ा दो मुझ को हे भगवान

स्वाधीनता की बलि-वेदी पर अपना शीश चढ़ाने की प्रेरणा देने में भारतीय माताएं पीछे नहीं रही। उन्होंने अपने पुत्रों को देश की खातिर मर मिटने का पैगाम दिया और स्पष्ट कहा कि माताएं जिस दिन के लिये पुत्र जना करती हैं, वह दिन आ गया है। कितने प्रेरणास्पद और देशभक्ति से सने हैं ममतामयी माता के ये बोल जिन्हें खड़ी बोली के किसी लोकगीतकार ने शब्द दिये हैं—

मेरे पुत्रों को यह पैगाम दे देना ज़रा बेटा।
मर मिटो देश की खातिर मेरे लखते जिगर बेटा।
जना करती हैं जिस दिन के लिए औलाद माताएं,
मेरे शेरों से कह देना कि वह दिन आ गया बेटा।

कवि जयशंकर प्रसाद के नाटकों के गीतों ने भी भारतीय युवकों में नई स्फूर्ति और मातृभूमि पर बलि होने की भावना भर दी। 'स्कन्ध गुप्त' नामक नाटक की 'हिमालय के आंगन में' शीर्षक कविता मातृभूमि भारत के लिये जीने और उसी पर अपना सब कुछ न्योछावर करने की प्रेरणा से ओतप्रोत है। इसमें अपने अतीत गौरव की ओर इंगित कर वर्तमान दुर्दशा को समाप्त करने की ओर भी इशारा किया गया है—

वही है रक्त वही है देश, वही साहस है, वैसा ज्ञान।
वही है शांति, वही है शक्ति वही हम दिव्य आर्य संतान,
जिएं तो सदा उसी के लिये यही अभिमान रहे यह हर्ष,
निछावर कर दें हम सर्वस्व, हमारा प्यारा भारतवर्ष।

'चन्द्रगुप्त' नाटक के प्रधान गीत ने स्वाधीनता आंदोलन को गति एवं संबल दिया। इस गीत में शत्रुओं पर टूट पड़ने का जबरदस्त आह्वान है—

अमर्त्य वीर पुत्र हो दृढ़ प्रतिज्ञ सोच लो
प्रशस्त पुण्य पंथ है बढ़े चलो बढ़े चलो
... ...
अराति सैन्य सिन्धु में, सुबाड़वाग्नि में जलो
प्रवीर हो जयी बनो, बढ़े चलो बढ़े चलो।

शौर्य और वीरता की साक्षात् प्रतिमूर्ति कवि श्याम नारायण पांडेय की रचनाओं ने पाठकों को मातृभूमि हित शान से बहादुरी के साथ बलिदान होने का पाठ पढ़ाया और साथ ही मातृभूमि की रक्षा करने के लिये कठोर व्रत लेने के लिये भी प्रेरणा प्रदान की। नीचे उनकी कृति 'जौहर' से कुछ पंक्तियां प्रस्तुत हैं—

सुन्दरियों ने जहां देशहित, जौहर व्रत करना सीखा।
स्वतन्त्रता के लिये जहां के बच्चों ने मरना सीखा।
वहीं जा रहा पूजा करने, लेने सतियों की पगधूल।
वहीं हमारा दीप जलेगा, वहीं चढ़ेगा माला फूल।

फिरंगियों ने स्वाधीनता के मतवालों पर अनेक अमानवीय अत्याचार किये। उन्हें मालूम था कि हिन्दोस्तानी इन अत्याचारों से थरथरा उठेंगे और स्वाधीनता संग्राम धीमा पड़ते-पड़ते समाप्त हो जायेगा। पर यह सब उनका मुगालता था। इन अत्याचारों ने हिन्दोस्तानियों को डिगाया तो नहीं बल्कि स्वाधीनता आंदोलन को और तीव्रता दे दी। अंग्रेज़ों के अत्याचारों का उत्तर मानो गुजराती के कवि श्री सुन्दरम् ने निम्न पंक्तियों द्वारा यह कह कर दिया कि भारत-वीर मातृभूमि पर अपने प्राण न्योछावर करने को अधीर है—

भारत वीर, भारत वीर
मरवा अमे सौ अधीर
मरशु अमे भारत वीर

भारती वीर फांसी पर लटकाये जाने से भी भयभीत नहीं हुए। उन्होंने उल्टे फिरंगियों को ही खबरदार किया कि स्वाधीनता आंदोलन, चाहे कुछ भी हो, नहीं रुका करता बल्कि देशभक्तों एवं स्वाधीनता के दीवानों को फांसी पर लटकाने से इस संग्राम की गति और भी तेज़ हो जाती हैं। राम प्रताप बिस्मल फिरंगी सरकार को चेतावनी देते हुए गर्जना कर उठते हैं—

बला से हम को लटकाये अगर सरकार फांसी से
लटकते आये अक्सर पैकरे-ईसार झांसी से

कभी ओ बेखबर तहरीके आज़ादी भी रुकती है ?

बढ़ा करती है उसकी तेज़िये-रफतार फांसी से ।

बलिदानियों ने करोड़ों भारतीयों को स्वाधीन देखने की खातिर अपनी कुर्बानियां हंसते हुए दे दीं । इन बलिदानों पर सब को गर्व हुआ । हुतात्माओं को देवताओं से भी ऊंचा दर्जा दिया गया है । कवि माखनलाल चतुर्वेदी की लोकप्रिय एवं सशक्त कविता 'पुष्प की अभिलाषा' में यही भाव दीखता है ।

मुझे तोड़ देना वनमाली उस पथ पर तू देना फैंक

मातृभूमि पर शीश चढ़ाने जिस पथ जाते वीर अनेक ।

बलिदानी वीरों के रास्ते पर बिछने और उनके चरणों के स्पर्श की कामना में वीरों के प्रति कितना श्रद्धाभाव दिखाया गया है इसकी कल्पना की जा सकती है ।

भारतीयों की दृढ़ता, बलिदान और त्याग इत्यादि ने अंग्रेज़ों की कुर्सी हिला दी । उन्हें अपना साम्राज्य ध्वस्त होता दिखाई दिया । उनकी पत्नियां घबरा गईं । भयभीत होकर वे अपने पतियों से क्या कहती हैं । इसका चित्रण अवधी के एक लोकगीत की निम्न पंक्तियों में हुआ है—

डियर अब चलो पलट घर चलें

सजन अब चलो पलट घर चलें

कि राजा बड़ा है लड़ैया ना

अंग्रेज़ अपनी शिकस्त को सामने देख बौखला उठे और अनेक वहशियाना हरकतों पर उतर आये । इन वहशियाना हरकतों की एक मिसाल जलियांवाला हत्याकांड है । इस हत्याकांड में लाखों निहत्थे भारतीयों को, जिनमें बच्चे, बूढ़े तथा महिलाएं भी शामिल थीं, बिना किसी चेतावनी के गोलियों से भून डाला गया । इस जघन्य कांड का बहुत ही कारुणिक चित्रण भोजपुरी के एक गीत में हुआ है—

आजु पंजबवा के करिके सुरतिया से,

फाटेला करेजवा हमार रे फिरंगिया ।

भारत की छाती पर भारत के बचपन के,

बहल रकतवा के धार रे फिरंगिया ।

दुधमुंहा लाल सब बालक मदन सम,

तड़पि-तड़पि देले जान रे फिरंगिया ।

भारत माता के सपूतों का बलिदान रंग लाया और हमें सन् 1947 ई० में स्वाधीनता मिल गई । यह स्वाधीनता कोटि-कोटि भारतीयों के लिये मुस्कुराहटों की सौगात तो लाई पर, साथ ही आंखों के लिये नमी भी । अंग्रेज़ों की चाल सफल हुई और देश दो टुकड़ों में बंट

गया—भाई-भाई से जुदा कर दिया गया।

दिल में खुशियां आंखें अपनी फिर भी क्यों पुरनम हैं ?
देश बंट गया ! जुदा हुआ भाई इसका ही गम है।

बड़ी कठिनाई से प्राप्त हुई आज़ादी की रक्षा करना हर भारतीय का कर्त्तव्य है—इस ओर अनेक कवियों ने इंगित किया है और हमें अपने कर्त्तव्य पालन के प्रति सजग रहने के लिये कहा है। जब कवि गिरिजा कुमार माथुर कहते हैं कि 'आज जीत की रात/पहरुए सावधान रहना .....' तो उनका मकसद यही है। खैर, स्वाधीनता काल में लिखी अनेक कविताओं में इस बात को रेखांकित किया गया है कि 'भारत की आज़ादी एशिया और अफ्रीका के परतन्त्र देशों का सुप्रभात है।' भारत की आज़ादी को अधिकांश कवियों ने विश्व इतिहास की सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना माना है। हरिवंशराय बच्चन स्वतन्त्र भारत का अभिनन्दन करते हुए भारत से कहते हैं कि 'यह केवल तुम्हारे लिये गौरव का विषय नहीं, अपितु यह सभी परतन्त्र देशों के लिये गौरव का विषय है; क्योंकि—

आज तुम से बद्ध सारे एशिया का, विश्व का कल्याण।
कर रहा हूं, आज मैं आज़ाद हिन्दोस्तान का आह्वान।

भारत की जनता, विशेष कर दरिद्रों-पिछड़ों आदि, को विश्वास था कि आज़ाद हिन्दोस्तान में जब जनता की सरकारें बनेंगी तो उनका भाग्य बदल जायेगा, वे गरीबी की वैतरणी को पार कर हरियाली और खुशबुओं के लोक में पहुंचेंगे। पर, स्वाधीनता के कुछ दशक बाद ही उनका मोह भंग हुआ जब उन्हें हर नेता और हर सरकार से वायदे, वायदे और थोथे वायदे ही मिले। धनाढ्य और धनवान तथा गरीब अत्यधिक गरीब होते गये। इसी बात से दुखी होकर जन-जन की भावनाओं का प्रतिनिधित्व करते हुए कश्मीर के कवि गुलाम मुहम्मद 'महजूर' की वाणी इस प्रकार फूट पड़ी—

यि आज़ाऽदी छ्य स्वर्गु॑च हूर
यि फेर्या खानु॑पथ खानय !
फकथ कॆंचन गरन अन्दर
छ्य मारान ग्रायि आज़ाऽदी।

अर्थात्—स्वर्ग की अप्सरा है यह आज़ादी। क्या यह घर-घर घूमेगी ! इसीलिये यह मात्र कई घरों में ही ठुमक-ठुमक कर पग धर रही है।

कितना तीखा व्यंग्य और विकट सच्चाई है इन पंक्तियों में।

आज़ादी पाने के बाद के भारत का जो सपना भारतीयों ने देखा था वह बहुत कुछ कवि सुमित्रानन्दन पंत की निम्न पंक्तियों में व्यक्त भावों का जैसा ही था—

रूढ़ि रीतियां जहां न हों आराधित,
श्रेणि-वर्ग में मानव नहीं विभाजित।
धन बल से हो जहां न जनश्रम-शोषण,
पूरित भव जीवन के सकल प्रयोजन।

पर, इस सपने का क्या हुआ ? यह सब हमारी आंखों के सामने है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद जनमानस कितना प्रफुल्लित हुआ और स्वाधीन भारत की कौन-सी तस्वीर उसमें उभरी इसका चित्रण एक बघेली कवि की निम्न पंक्तियां कर रही हैं—

भइलो स्वतन्त्र हम भयन आज।
अब सुना विदेसी हमरे पर, कबहूं काउ करि है न राज॥
फइरई तिरंगा अब जाधा, सब से ऊंचा-सा सानदार।
होई भारत ऐसन हमार मानो जइसे सब विश्वहार
होई हमार यह देश ताजा, भइतो ....

स्वाधीनता के इन पचास वर्षों के दौरान भारत ने अनेक क्षेत्रों में नाम कमाया पर, यह कहने में भी संकोच नहीं होना चाहिये कि इस अवधि में जितना कुछ और हो सकता था वह नहीं हुआ। नेतृत्व अपनी कुर्सी बचाने और इसी के साथ चिपके रहने में सारी शक्ति लगाता रहा। देश हित गौण हो गया! यही सब देख कवि को कहना पड़ा—

पहले लोग सठिया जाते थे
अब कुर्सिया जाते हैं.........

'भ्रष्टाचार अब हमारे सामाजिक जीवन का एक अनिवार्य अंग बन गया है।' स्वार्थी और भ्रष्ट लोगों का बोल-बाला देखकर ही मेरे कवि को कहना पड़ा—

जंगल तो जंगल/घरों, बाजारों/गलियों सड़कों पर
घूम रहे/नागों के/दल के दल
फण उठा-उठा/फुफकार रहे हैं तक्षक
कुर्सी-कुर्सी को/कब्जा कर.........

स्वाधीनता की स्वर्ण जयन्ती मनाते हुए जहां हमें अपनी प्रगति पर गर्व करना चाहिये वहीं हमें उन समस्याओं के निराकरण के बारे में भी गम्भीरता से सोचना चाहिए जो आज विश्व में हमारे अपमान का कारण हो रही हैं। □

स्वाधीनता संघर्ष और उर्दू कविता

□ प्रेमी रूमानी

अनु. पृथ्वी नाथ मधुप

हिन्दुस्तान के इतिहास में सन् 1857 का विद्रोह एक महत्वपूर्ण मोड़ है। यहां से हिन्दुस्तान के राजनीतिक और सामाजिक जीवन में एक जबरदस्त क्रांति के अध्याय का आरम्भ होता है तथा हिन्दुस्तान की जनता शताब्दियों पुरानी गुलाम-दर-गुलाम ज़िन्दगी के अन्धेरों से निकलने की राहें तलाश करने लगती है। आज़ादी की पहली जंग का पहला पत्थर यहीं पर रखा जाता है। और इसके पश्चात् इस जंग की निरन्तरता बनी रहती है। यहां तक कि परतंत्रता के अन्धकार में स्वतन्त्रता की एक झीनी किरण झिलमिलाती सी दीखती है। इस स्वाधीनता को प्राप्त करने के लिए हिन्दुस्तान की जनता को कितना संघर्ष करना एवं कष्ट झेलना पड़ा था। ये तथ्य सर्वविदित हैं कि तब से अनगिनत वीरों ने अपने सीनों पर अंग्रेज़ी साम्राज्य की गोलियों की कितनी बौछारें सहीं, कितने ही फांसी के फंदों पर हंसते-हंसते झूल गये, कितने यौवन उजड़ गये, सुहाग लुट गए और कितनों ही के सपने भस्मीभूत हो गये। सन् 857 को यह विद्रोह यद्यपि बहुत सीमा तक अव्यवस्थित एवं मौन था परन्तु इसने हिन्दुस्तानी मानस को एक नये रास्ते पर डाल दिया। इसके बाद जो आग सुलग उठी उसने समूचे हिन्दुस्तान को अपनी लपेट में ले लिया। और हिन्दुस्तानी जनता ने अपनी-अपनी ताकत के अनुसार इस आन्दोलन को अपने अरमानों, अपनी इच्छाओं और अपनी रगों में बहने वाले लहू से सींचा। इस आन्दोलन को चलाने में सम्प्रदाय, वर्ण, जाति, उम्र, इत्यादि का कोई भेदभाव नहीं बरता। नेताओं ने पथप्रदर्शन किया जनता ने शीश बिछा दिये। लेखकों एवं कवियों ने अपने दिल के रक्त सने शब्दों में ढाल कर बारूद की सुरंगें बिछा दीं। उर्दू शायर भी किसी तरह दूसरी भाषाओं के साहित्यकारों से पीछे नहीं रहे और उन्होंने भी अपनी कविताओं के माध्यम से इन्कलाब को आवाज़ दी। स्वाधीनता-देवी की आरती उतारी, सामयिक मांग का ध्यान रखा और जनता में शौर्य,

दृढ़संकल्प की भावना, वीरता तथा देशभक्ति की आग पैदा कर दी । मातृभूमि को स्वाधीन करने की ललक, शातिर साम्राज्यवादियों की चालबाज़ी तथा अपनी प्राचीन संस्कृति की बरबादी पर ग़ालिब जैसा ग़ज़ल गो भी चुपके-चूपके आंसू बहाता है। कुछ शेर प्रस्तुत हैं :—

या शब को देखिये कि हर गोश-ए-बिसात
दामान-ए बाग़बान-ओ-कफ़-ए-गुल फ़रोश है
लफ्ज़ ख़राम साक़ी व ज़ौक सदाये चन्ग
यह जन्नत निगाह वोह फिरदौस गोश है
या सुबह दम जो देखिये आ कर तो बज्म में
नय वोह सरूदो साज़ न जोशोखरोश है
दागे फिराक़ समते शब की जली हुई
इक शमा रह गई है सो वोह भी खमोश है

अथवा—

चौक जिसको कहें वह मक़तल है
घर बना है नमूना ज़िदां का
शहर दिली का ज़र्रा-ज़र्रा ख़ाक
तश्ना खूं है हर मुसलमां का
इस तरह के वसाल से ग़ालिब
क्या मिटे दिल से दाग़ हिज्रां का

दिल्ली की यही तबाही, जो फिरंगियों के द्वारा हुई, कितने ही शायरों को तड़पा कर रख गई। हाली जैसे शान्त स्वभाव वाले शायर ने भी न केवल देशभक्ति का एहसास दिलाया अपितु दिल्ली जैसे शहर की इस बरबादी का रोना इस तरह रोया :—

तज़किरा दिले मरहूम का ए दोस्त न छेड़
न सुना जायेगा हमसे यह फसाना हरगिज़
दास्तान-ए-गुल की खिजां में न सुना अय बुलबुल
हंसते-हंसते हमें ज़ालिम न रुलाना हरगिज़
मोजज़न दिल में हैं यां खून के दरिया-ए-चश्म
देखना अब्र से आंखें न चुराना हरगिज

आधुनिक उर्दू कविता का आरम्भ सन् 1867 में हुआ जब लाहौर में अंजुमन-ए-पंजाब' की स्थापना हुई। इस संस्था की अध्यक्षता कर्नल हॉलराइड ने की थी और इसको पल्लवित-पुष्पित करने में मुहम्मद-हुसैन आज़ाद तथा अल्ताफ हुसैन हाली का क़ाफ़ी योगदान रहा।

यहां से विषयक कविता का विधिवत आरम्भ हुआ और उर्दू कविता की एक नई विधा सामने आई । नई मान्यताओं के अनुरूप शायरी के विषयों में भी परिवर्तन आया । आज़ाद ने देशभक्ति को एक विषय के रूप में चुना पर, उर्दू शायरी में हाली के युग से पहले देशभक्ति की परिकल्पना इतनी स्पष्ट और पूर्ण नहीं थी । सत्तावन के विद्रोह से प्रभावित होकर भारत की दुर्दशा पर कई नज़्में लिखीं गई परन्तु इनमें देशभक्ति का भाव सुस्पष्ट नहीं है । हाली पहले शायर थे जिन्होंने अतीव प्रेम से देशभक्ति को वाणी दी । सन् 1885 में आल इण्डिया कांग्रेस की स्थापना हुई जो यद्यपि एक मामूली सी चिन्गारी थी परन्तु कई वर्षों के अन्दर ही इसने इक लपट का रूप ले लिया । इस दल ने व्यवस्थित रूप से साम्राज्य के विरुद्ध लड़ने की शिक्षा एवं साहस दिया । उर्दू शायरों ने इससे प्रभाव ग्रहण कर अपने विचारों को शे'रों के रूप में अभिव्यक्ति दी । इस युग के शायरों में शिबली और अकबर इलाहाबादी का नाम भी विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं । उदाहरणार्थ :—

अय वतन अय मेरी बहिश्त बरीं क्या हुए तेरे आसमान-ओ-ज़मीं

रात और दिन का वह समां न रहा वोह ज़मीं और वोह आसमान न रहा

सच बता तू सभी को भाता है या कि मुझ से ही मेरा नाता है

मैं ही करता हूं तुझ पै जां निसार याकि दुनिया है तेरी आशक ज़ार

क्या ज़माने को तू अजीज़ नहीं ? अय वतन तू तो ऐसी चीज़ नहीं

जिन व इंसान की हयात है तू फरगोमाही की कायनात है तू

है नबातात का नमू तुझ से ओख तुझ बिन हरे नहीं होते ।

तेरी इक मुश्त ख़ाक के बदले लूं न हरगिज अगर बहिश्त मिले ।

जान जब तक न हो बदन से जुदा कोई दुश्मन न हो वतन से जुदा

——हुब्ब-ए-वतन 'हाली'

और शिबली अपने विशेष अन्दाज़ पुकार उठे :—

हकूमत मत ज़वाल आया तो फिर नामो निशां कब तक

चरागे कुश्तह महफिल से उठेगा धुआं कब तक

—शहर आशोब असलाम, शिबली नामानी ।

मराकश जा चुका 'फारस गया' अब देखना यह है

कि जीता है यह तरक्की का मरीज सख्तजां कब तक

यह सैलाब बलबलकान से बढ़ता आता है

इसे रोकेगा मज़लूमों की आहों का धुआं कब तक

शिबली का यह नग्मा राजनीतिक जागृति की पहली लहर थी । सन् 1912 में पश्चिमी शक्तियों की शह पर बलकान की रियासतों ने तुर्की के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की जिससे हिन्दुस्तानी मुसलमान के दिल में पश्चिमी शक्तियों के प्रति जबरदस्त आक्रोश उभरा । इससे प्रभावित होकर शिबली ने अपनी प्रसिद्ध नज्म 'शहर-ए-आशोबी इस्लाम' लिखी थी ।

इस लड़ाई में हिन्दोस्तानी मुसलमानों की ओर से जो आयुर्वैज्ञानियों का प्रतिनिधि मण्डल डॉक्टर अनसारी की अध्यक्षता में बुलकान गया था, उसकी वापसी ने एक जोशीली कविता लिखी : नज्म का एक शेर देखिए :—

तुम्हींने निमाज़ियों के जिस्म पर टांके लगाये हैं
शहीदाने वतन के जामा पुरखून भी देखें हैं

इसी युग में अकबर इलाहाबादी उर्दू कविता के क्षितिज पर उभरे। अकबर ने उर्दू कविता को हास्य-व्यंग्य से परिचित कराया। इसलिए नई उर्दू कविता के प्रारम्भिक दौर में इसका बड़ा योगदान रहा परन्तु अकबर की देन यह भी है कि उन्होंने हास्य-व्यंग्य के आवरण में अपने दौर की वेदना एवं व्यथा की भी अभिव्यक्ति समुचित रूप से की। अकबर ने मुन्शी सजाद हसन के सम्पादकत्व में लखनऊ से छपने वाली पत्रिका 'अवध पंच' में सब से पहले लिखना आरम्भ किया जो अपने हास्य के पुट के कारण समूचे देश में लोकप्रिय थी। अकबर अपने दौर के एक प्रबुद्ध शायर हैं इसलिए उन्होंने अपने समय की भावनाओं एवं सोच को अपनी कविता में प्रस्तुत किया। यह वह ज़माना है जब हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ी शासन सुदृढ़ हो चुका था तथा आंग्ल सभ्यता, संस्कृति और अंग्रेज़ी प्रभाव हिन्दुस्तानियों पर छा चुका था। धार्मिक एवं मानवीय मूल्यों का अवमूल्यन हो चुका था। अकबर का दृष्टिकोण सर सैयद से भिन्न था। वे अंग्रेज़ीपरस्ती के खिलाफ थे। उनका विचार था कि पश्चिमी शिक्षा ने हिन्दोस्तानियों के धार्मिक एवं आध्यात्मिक विश्वासों को आघात पहुंचांया है और वे अपने स्वर्णिम अतीत को भूल गये हैं। स्पष्ट है कि यह दृष्टिकोण सर सैयद के विचारों से मेल नहीं खाता था, परन्तु अकबर की मानसिक व्यथा को भुलाया नहीं जा सकता, अकबर कहते हैं :—

हरचन्द कि कोट भी है पतलून भी है
बंगला भी है पाट भी है साबुन भी है
लेकिन मैं यह पूछता हूं तुम से हिन्दी
यूरोप का तेरी रगों में खून भी है ?

अथवा—

बहुत ही उमदा है अय हमनशीं ब्रिटिश राज
हर तरह के जवाबित भी हैं असूल भी हैं
जो चाहे खोलले दरवाज़ा-ए-अदालत को
कि तील बीच में ढली है उसकी चूल भी है
जब इतनी नेमतें मौजूद हैं यहां अकबर
तो हर्ज क्या है अगर साथ में डैमफूल भी है

कई लोगों के मतानुसार अकबर का यह नकारात्मक रवैया था जिसके कारण उन्होंने अंग्रेज़ी संस्कृति एवं शिक्षा का विरोध किया है परन्तु वास्तविकता यह है कि अकबर इस सभ्यता की पृष्ठभूमि में यथार्थ की गहरी समझ रखते थे। उन्हें एहसास था कि हिन्दुस्तानी

कौम शासित एवं विवश कौम है और इन पर गुलामी लाद दी गई है। यही कारण है कि वे तरह-तरह से इसका मज़ाक उड़ाते हैं। 'दिल्ली दरबार' कविता में कहते हैं :—

आज ब्रिटिश राज का देखा परतव तख़्तोताज का देखा

रंगे ज़माना आज का देखा रुख कर्ज़न महाराज का देखा

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से ही कांग्रेस ने हिन्दोस्तान के स्वाधीनता आन्दोलन को एक नया मोड़ दिया। कांग्रेस दो दलों में विभाजित हुई—एक गर्म दल और दूसरा नर्म दल। परन्तु समय के गुज़रने के साथ देशभक्ति की भावनाओं में उबाल आ गया और गांधी जी के नेतृत्व में कई आंदोलनों का सूत्रपात एवं प्रसार हुआ। लोकल सेल्फ गवर्नमेंट की मांग हुई। होमरूल की तहरीक चली। असहयोग आन्दोलन और सिविल नाफरमानी के साथ-साथ नमक सत्याग्रह तथा खद्दर का आन्दोलन भी चला। आखिर सन् 1919 में रावी के किनारे पण्डित जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में कांग्रेस का जो अधिवेशन हुआ उसमें सम्पूर्ण स्वराज का प्रस्ताव पारित हुआ। उर्दू शायरों ने अपनी नज़्मों से जनता का लहू गर्माया और स्वाधीनता आन्दोलन में जनसामान्य का भावनाओं का प्रतिनिधित्व किया। शिबली ने जिस एजिटेशनल शायरी की नींव रखी थी उसका विकास चकबस्त, अकबर आबादी, हसरत मोहानी, तलोकचन्द महरूम, मुनीर शिकोह आबादी, इस्माईल मेरठी, सीमाब अकबराबादी ज़फरअली खान, अलामा इक़बाल, जोश मलीहाबादी आदि के द्वारा के रूप में कुछ पंक्तियां प्रस्तुत हैं :—

अगर तुमको हक़ से है कुछ भी लगाओ तो बातिल के आगे न गर्दन झुकाओ

हकूमत को तुमने लिया आज़मा अब अपने मक़सद को भी आजमाओ

हो तुम जिसके जर्रे वोह है ख़ाक-ए-हिन्द छिपे हैं अमन में वोह जौहर दिखाओ

पुराना हुआ दफ़्तरी इक़तिदाद समझ लो अब इसका भी है चलन चलाओ

किसी रोज़ खुद ग़र्क़ हो जायेगी बहुत बह चुकी है यह काग़ज़ की नाव

⊙

ये ख़ाके हिन्द से पैदा है जोश के आसार

हिमालया से उठे जैसे अब्र-दए-दयाबाद

लहू रगों में दिखाता बर्क की रफ्तार

हुई है ख़ाक के पर्दे में हड्डियां बेदार

ज़मीं से अर्श तक शोर होमरूल का है

शबाब क़ौम का है ज़ोर होमरूल का है

——ख़ाके हिन्द, चकबस्त।

⊙

मराअलों से बनाया है बसद फिक्र जमील

मसातरने यह हुस्नखाना गिलडर खलील

लोहे की महीब बेड़ियां कसकर-

चांदी में कर दिया है तवदील

—15 अगस्त 1947, जोश मलीहाबादी

इक़बाल की नज़्मों का बड़ा हिस्सा साम्राज्यवादियों के विरोध और देशभक्ति की भावना से ओतप्रोत है। उन्होंने हिन्दुस्तानियों में नया जोश भरने का प्रयत्न किया और एक नई दुनिया का निर्माण करने की चेष्टा की। नालये यतीम, हिमाला, तरान-ए-हिन्दी, हिन्दोस्तानी बच्चों का क़ौमी गीत, नया शिवाला और अमन कबील की बीसियों नज़्में हैं जिनमें इक़बाल राजनीतिक विचारों, उनकी सोच और उनकी सांस्कृतिक समझ का स्पष्ट रूप से पता चलता है :—

आफताब ताज़ा पैदा बतन गीती से हुआ आसमां टूटे हुए तारों का मातम कब तक

न समझोगे तो मिट जाओगे ए हिन्दोस्तां वालो

तुम्हारी दास्तां तक भी न होगी दास्तानों में

सफीना मरग गुल बना लेगा क़ाफिला मोरि नातवां का

हज़ारों मौज़ों कशाकश मगर यह दरिया से पार होगा

प्रगतिवादी आन्दोलन ने उर्दू साहित्य को एक नई दिशा प्रदान की। यह आन्दोलन मूलत: सहकारिता के दर्शन से प्रभावित था। उर्दू शायरी में यह आन्दोलन के प्रभाव से उर्दू शायरी में छन्द और कथ्य का नया अध्याय जुड़ गया। यह आंदोलम जो प्रमुखत: लूट-खसूट की व्यवस्था के विरुद्ध एक साहित्यिक आन्दोलन था स्वाधीनता संग्राम को गति व जोश देती रही। इस आन्दोलन ने उर्दू की नज़मिया शायरी में न केवल कई नये चेहरों से परिचित कराया अपितु नये प्रयोग भी किये इनमें विशेषरूप से मजाज़, जज़बी, फ़िराक़, क़ैफ़ी आज़मी, सरदार जाफरी, अखतर अन्सारी, अहमद नदीम क़ाज़मी, शमीम किरमानी, साहिर लुधियानवी, जान निसार अख्तर, फ़ैज़ और अनेक शायरों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन्होंने हिन्दुस्तानी स्वाधीनता आन्दोलन के हर दौर का प्रतिनिधित्व किया और हिन्दुस्तानी दिलों की धड़कनों को शब्द दिये :—

वोह भगतसिंह अब भी जिसके ग़म में दिल नाशाद है

अमन की गर्दन में डाला था वोह फंदा याद है

अहले आजादी रहा करते थे किस हन्जार से

पूछ लो यह क़ैदखानों के दरोदीवार से

अब कहानी वक्त लिखेगा नये मजमून से

जिसकी सुर्खी को जरूरत है तुम्हारे खून से

—ईस्ट इण्डिया कंपनी के फरजन्दों के नाम, जोश मलीहाबादी।

हिल चुका है तख्ते शाही गिर चुका है सर से ताज

हर क़दम पर डगमगाया जा रहा है साम्राज

ग़म के सीने में खुशी की आग भरने दो हमें

खूं भरे परचम के नीचे रक्स करने दो हमें

—जंग और इन्कलाब—सरदार ज़ाफरी।

आज मेरे बाग़ी मुतरिब ने छेड़ दिये वो तार

डूब गई संसार के दिल में तार की हर झंकार

गूंज उठे सब दरिया जंगल बोले कोहिस्तान

जागा हिन्दोस्तान रे साथी जागा हिन्दोस्तान

———जागा हिन्दोस्तान—कैफ़ी आज़मी

जिगर की आग नज़र की उमंग दिल की जलन

किसी पर चार-ए हिज़ां का कुछ असर नहीं

कहां से आई निगारे सबा किधर को गई

अभी चिरागे सरे राह को कुछ ख़बर ही नहीं

अभी गराने शब में कमी नहीं आई

नजाते दीदो दिल की घड़ी नहीं आई

चले चलो कि वोह मंज़िल अभी नहीं आई

———फैज़

इन विचारों से पता चलता है कि स्वाधीनता संघर्ष में उर्दू शायरों ने जो भूमिका निभायी है और इसमें उर्दू कविता की जो भागीदारी रही है वह किसी नेहरू, गांधी और किसी तिलक के कारनामों से कम नहीं। उनकी उमंगों और चाहतों में भी वह खून का उबाल है जिसने हमारे इन महान नेताओं को स्वाधीनता संग्राम में जूझ पड़ने के लिये प्रेरित किया था। □

शारदा पीठ कश्मीर का संस्कृत परिप्रेक्ष्य : पचास वर्ष

□ डॉ॰ बदरीनाथ कल्ला

कश्मीर केवल प्राकृतिक संपदा के लिए ही नहीं अपितु साहित्यिक संपदा के लिए भी विश्व विख्यात है। प्राकृतिक संपदा तथा साहित्यिक संपदा के समन्वय ने इस उपत्यका के गौरव को आज तक अक्षुण्ण रखा है। यह साहित्यिक संपदा इस शस्यश्यामला, उर्वरा भूमि की देन है जिसके फलस्वरूप यहां के आचार्यो—वसुगुप्त, सोमानन्द उत्पलदेव तथा अभिनवगुप्ताचार्य आदि ने समय समय पर ऐसे अध्यात्म और भारतीय चिन्तन को जन्म दिया जो सब के लिए अनुकरणीय ही नहीं बल्कि ग्राह्य भी है। इस आध्यात्मिकता तथा दार्शनिकता का केन्द्र शारदापीठ, शारदामठ अथवा शारदा देश था जो हजारों वर्षों से जिज्ञासुओं को इस ज्ञान से आप्लावित करता था। इस रूप में यहां के विद्यामठ तथा विद्या केन्द्र सबके लिए आकर्षण के केन्द्र थे। इन केन्द्रों की कीर्ति सारे एशियाद्वीप में फैली हुई थी। यही कारण है कि भारत के अतिरिक्त विदेशों से अर्थात् मध्य एशिया तथा चीन से महान विभूतियां आकर यहां के धुरन्धर आचार्यों से ज्ञान गंगा का अमृत पान करती रहीं। इन विदेशी महान् विभूतियों कुमारजीव (तिब्बतवासी) तथा ह्यूनसांग के नाम उल्लेखनीय हैं। यही प्रतिष्ठित पीठ विद्वानों की योग्यता का पारखी था। इस प्रकार कश्मीर प्राचीन काल में भारतीय संस्कृति तथा संस्कृत का प्रधान केन्द्र माना जाता था। यहां के विद्यामठों अथवा विद्या-केन्द्रों का वर्णन महाकवि कल्हण ने अपनी रचना 'राजतरंगिणी' में इस प्रकार किया है :—

'विद्यावेश्मानि तुंगानि कुंकुमं महिमं पयः।
द्राक्षेति यत्र सामान्यमस्ति त्रिदिव दुर्लभम्।।

यदि संस्कृत वाङ्मय का गम्भीर रूप से अध्ययन किया जाये—तो हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि संस्कृत तथा कश्मीर का आपसी में सम्बन्ध चोली दामन का सा है। इस भाषा ने जन-जीवन को प्रभावित ही नहीं किया है—अपितु जन-मानस पर अमिट छाप भी डाली है। वस्तुत: संस्कृत की प्राचीन गौरवशाली परम्परा ने ही कश्मीर की कीर्ति-पताका को विश्व में फहराया है। कश्मीर में वैदिक संस्कृति सभ्यता के विभिन्न स्रोतों के उदाहरण हमें हज़ारों वर्षों के बाद अब भी विभिन्न रूपों में यत्र-तत्र दिखाई देते हैं। पर्वतों, नदियों, सरोवरों, गांवों तथा जनपदों की नामावली इस तथ्य को स्वत: सिद्ध करती है। विभिन्न कालों से गुज़रती हुई संस्कृत भाषा कालजयी बनी रही, यह इसकी लोकप्रियता महानता तथा पूर्णता का ज्वलन्त उदाहरण है।

पहले इसका त्रिकाल-वर्गीकरण द्रष्टव्य होगा।

1. आदिकाल 2. मध्यकाल 3. आधुनिक काल। संस्कृत साहित्य का आदिकाल प्रथम शती से चौदहवीं शती तक माना जाता हैं। इस युग में कश्मीर में संस्कृत के प्रत्येक क्षेत्र में उन्नति हुई। प्राय: आठवीं शती से बारहवीं शती तक विविध विषयों में निष्णात् कश्मीर के मूर्धन्य आचार्यों—आनन्दवर्धन, मम्मटाचार्य तथा महिम भट्ट आदि आलंकारिकों, सोमानन्द, उत्पलदेव तथा अभिनवगुप्त आदि दार्शनिकों, कल्हण तथा बिल्हण जैसे इतिहासकारों, सोमदेव तथा क्षेमेन्द्र आदि गद्यकारों ने संस्कृत साहित्य की विभिन्न विधाओं पर अमर रचनायें लिखी। यह युग वस्तुत: कश्मीर का स्वर्ण-युग माना जाता है, क्योंकि इस युग ने मानव-चिन्तन को एक नई दिशा तथा एक नया दर्शन दिया जो संसार में 'प्रत्यभिज्ञा दर्शन' के नाम से प्रसिद्ध है। इस युग में लोगों की अभिव्यक्ति का माध्यम संस्कृत था जिसका उल्लेख कल्हण के समकालीन बिल्हण ने अपने महाकाव्य—'विक्रमांक देवचरितम्' में इस प्रकार किया है :—

"यत्र स्त्रीणां किमप्यपरं जन्मभाषावदेव।
प्रत्यावासं विलसति वच: संस्कृतं प्राकृतम" ॥

'जहां स्त्रियां घर घर में—मातृभाषा की तरह संस्कृत तथा प्राकृत बोलती हैं'। नि:सन्देह यह काल संस्कृत वाङ्मय के पूर्ण विकास का युग है।

संस्कृत साहित्य का मध्यकाल चौदहवीं शती से प्रारम्भ होता है। हिन्दुओं का शासन-काल समाप्त होने के बाद प्राय: मुसलमानों का युग-शाहमीरी शासनकाल—1339 ई० से माना जाता है। उसके बाद चक शासनकाल (1554-1586 ई०) मुगल शासनकाल, अफगान शासनकाल, सिक्ख शासनकाल (1819-1846 ई०), तथा डोगरा शासनकाल (1846 ई० 1947 ई०)। इन विभिन्न कालों में अर्थात् प्राय: पांच सौ वर्षों में संस्कृत के स्थान पर फ़ारसी भाषा ही राजभाषा के रूप में प्रचलित रही। विदेशी प्रभाव के कारण सोलहवीं शती तक इस भाषा का प्रयोग मिश्रित भाषा के

रूप में हुआ। इसका उदाहरण हमें क्षेमेन्द्र रचित 'लोकप्रकाश' में स्पष्टरूप से मिलता है :—

'संवत्सरेऽत्र दिने श्री प्रेमपित कदले रैजिज-कमुकेन रैजि्-अमुक-पुत्रेण हस्ते सति बंगल-चरिका दत्ता। यथा अत्र आगरान्तरे खुज्या अमुकः खुड्या अमुकं प्रति लिखित-खुज्या अमुके सलामा बन्दगी ददनीयमिति'

यह मिश्रितभाषा—(अरबी तथा फ़ारसी युक्त भाषा) राज्यकार्यों तथा न्यायोलयों में भी प्रचलित थी। विदेशी राज्य हज़ारों वर्षों से हमारे हृदय पर अंकित भारतीय संस्कारों को मिटाने में सक्षम न हुआ। फलतः जनता ने वसीयतनामों, शिलालेखों तथा अष्टामों में संस्कृत का प्रयोग किया। सबसे पहले संत हज़रत मखदूम साहिब (16वीं शती) का वसीयत-नामा हमें दोनों लिपियों तथा दोनों भाषाओं—संस्कृत तथा फारसी में लिखा हुआ एक शिला-लेख के रूप में मिलता है जो इस समय जम्मू व कश्मीर के संग्रहालय में सुरक्षित है। यहां पर यह कहना असंगत न होगा कि जैन-उलाब्दीन/बडशाह के राज्यकाल का एक शिलालेख 'ख्वनमुह (संस्कृत-खौनमुब) गांव के पास भुवनेश्वर नामक स्थान में उपलब्ध हुआ है। यह शिलालेख तत्कालीन समाज का संस्कृत के प्रति अनुराग को प्रकट करता है। इसी तरह हारी पर्वत की अधित्यका में बाहुउद्दीन साहिब के अहाते में यवनों के स्मारकों पर संस्कृत में अनेक शिलालेख पाये जाते हैं। इसका उल्लेख डॉ० स्टीन ने भी 'राजतरङ्गिणी' के अंग्रेज़ी अनुवाद में किया है। उक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट होता है कि संस्कृत भाषा मध्यकाल में किसी न किसी रूप में प्रचलित थी।

इस संदर्भ में यह कहना भी संगत है कि यवनशासकों में केवल सुरत्राण (सुल्तान) जैन उलाब्दीन (1423-1475 ई०) एक ऐसा उदारचित्त, सहिष्णुशील, दूरदर्शी तथा संस्कृता-नुरागी शासक था जिसके संस्कृत-साहित्य की उन्नति में महत्वपूर्ण कार्य को भुलाया नहीं जा सकता है। इस सुलतान के धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण के कारण संस्कृत का पाठशालाओं में पुनः पठन-पाठन आरंभ हुआ। जोनराज, श्रीवर, नोत्थसोम, योधभट्ट, अवतारभट्ट शिर्यभट्ट आदि अनेक संस्कृत विद्वान उसकी साहित्यिक परिषद् को समलंकृत करते थे। इसी युग में कल्हण पंडित के बाद जोनराज, श्रीवर, प्राज्यभट्ट तथा शुक ने 'राजतरंगिणी' के आधार पर संस्कृत में विभिन्न राजतरङ्गिणियों की रचनायें की। जोनराज ने द्वितीय 'राजतरङ्गिणी' की रचना की जिसमें तेईस राजाओं का उल्लेख है। उसने तीन संस्कृत-ग्रंथों—महाकवि भारवि के 'किरातार्जुनीय' मंख के 'श्रीकण्ठचरित' तथा जयानक के 'पृथ्वीराज विजय' पर टीकायें लिखी हैं। जोनराज का शिष्य श्रीवर भी संस्कृत का कवि था। अपने गुरु के मरणो-परान्त उसने तीसरी 'राजतरङ्गिणी' लिखी तथा फ़ारसी के मूर्धन्य कवि मुल्लाजामि की कृति—'यूसुफज़ुलेखां' के आधार पर संस्कृत-काव्य 'कथाकौतुक' लिखा। इस तरह जैन उलाब्दीन बड़शाह के शासनकाल में संस्कृति की उन्नति का परिचय मिलता है।

इन युगों में यहां के साहित्यकारों ने प्रायः संस्कृत से निःसृत कश्मीरी भाषा को ही अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाकर—इसकी विभिन्न विधाओं को संस्कृत के आधार पर जन्म दिया। इसमें लल्लद्यद के 'वाख़' (संस्कृत-वाक्) नुन्द ऋषि के श्रुक्य (सं०—श्लोक)

शितिकंठ के 'पद' अरणीमाल के 'वचन' बहुत ही लोकप्रिय हैं। कुछ यवन सुल्तानों के दृष्टिकोण के कारण वैदिक युग से बहती हुई संस्कृत गंगा का प्रवाह कुछ समय तक रुक गया। लेकिन यहां के संस्कृत प्रेमियों ने इस ज्ञान गंगा को किसी प्रकार शुष्क होने न दिया। इसका स्रोत हमेशा सब को अपनी ओर आकृष्ट करता रहा। इस युग में यहां के तीर्थों की पवित्रता को सुरक्षित रखने तथा भारतीय संस्कृति के मूलभूत तत्वों की जानकारी के लिए कश्मीर के तीर्थवासी पठित ब्राह्मणों ने 'माहात्म्य' लिखे जिनमें 'अमरेश्वर-माहात्म्य', 'प्रयाग माहात्म्य', 'शारदा माहात्म्य' तथा 'वितस्ता माहात्म्य' आदि महत्त्वपूर्ण हैं। मुगल शासनकाल में जगद्धर भट्ट ने 'स्तुति कुसुमांजलि' की रचना की। डोगरा शासन काल में भारतीय संस्कृति के प्रतीक महाराजा गुलाब सिंह के सुपुत्र महाराजा रणवीरसिंह (1830-18४) ने संस्कृत भाषा तथा साहित्य के बहुमुखी विकास के लिए जम्मू में 'रघुनाथ संस्कृत महाविद्यालय' तथा कश्मीर में 'राजकीय संस्कृत पाठशाला' की स्थापना 18 0 ई० में की जहां विद्यार्थियों को प्राज्ञ से शास्त्री परीक्षा तक नि:शुल्क संस्कृत पढ़ाई जाती थी तथा निर्धन विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति भी दी जाती थी। साथ ही 'श्री रणवीर संस्कृत पुस्तकालय' की भी स्थापना हुई जो कालांतर 1902 ई० में 'जम्मू व कश्मीर रिसर्च विभाग' में परिवर्तित हुआ। धीरे-धीरे यह विभाग विकसित हुआ। संस्कृत पांडुलिपियों का संग्रह करना इस विभाग के प्रमुख कार्यों में था। इस समय इस 'शोध विभाग' के साथ संस्कृत पांडुलिपियों का भी एक अनुभाग है जहां संस्कृत के विभिन्न विषयों की प्राय: पांच हजार पांडुलिपियां शारदा तथा देवनागरी लिपि में सुरक्षित हैं। इस विभाग की स्थापना के बाद सैंकड़ों की संख्या में शैवदर्शन आदि विषयों पर पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। इन ग्रंथों के संशोधन तथा सम्पादन में श्री जे० सी० चटर्जी, पं० मुकुन्दराम महामहोपाध्याय, पं० मधुसूदन कौल शास्त्री, प्रो० जगद्धर ज़ाडू, पं० हरभट्ट शास्त्री, पं० रामचन्द काक, पं० दीनानाथ यक्ष (शास्त्री) डॉ० नलिनाक्ष दत्त तथा पं० शिवनाथ शर्मा आदि के नाम स्मरणीय है।

महाराजा प्रतापसिंह के शासनकाल में संस्कृत के प्रकांड पंडित श्री ईश्वर कौल ने पाणिनीय सूत्रों के आधार पर संस्कृत में 'कश्मीरी शब्दामृतम्' नामक पहला कश्मीरी व्याकरण लिखा जिसे सर जार्ज इब्राहिम ग्रियर्सन ने सम्पादित करके 'एशियाटिक सोसाइटी—कलकत्ता' से प्रकाशित किया। इसके अतिरिक्त ईश्वर कौल ने 'कश्मीरी संस्कृत शब्द कोश लिखा था जिसका उल्लेख ग्रियर्सन ने 'कश्मीरी डिक्शनरी' के प्रथम खंड की भूमिका में किया है। इसकी तीसरी कृति 'कश्मीरी दश भाषोदय' नामक संस्कृत-कोश की पांडुलिपि दो खंडों में विभक्त इस समय रिसर्च विभाग में सुरक्षित है। यह कोश संस्कृत पद्यों में लिखा गया है। इसमें कश्मीरी शब्दों के पर्याय दस भाषाओं में दिये गये हैं जैसे—अरबी, फारसी, अंग्रेज़ी, लामी, बलती आदि।

इस संदर्भ में महामहोपाध्याय पं० मुकुन्दराम शास्त्री का योगदान भी सराहनीय है। सर जार्ज ग्रियर्सन द्वारा संपादित 'कश्मीरी डिक्शनरी' के चार खंडों में महामहोपाध्याय मुकुन्दराम ने प्राय: पचीस हजार कश्मीरी शब्दों तथा मुहावरों का अनुवाद संस्कृत में किया है और प० कृष्ण राजानक (राज़दान) के 'शिवपरिणय' के कश्मीरी पद्यों की छाया

(Gnloss) संस्कृत में लिखी है। ये दोनों पुस्तकें 'एशियाटिक सोसाइटी' से प्रकाशित हुई हैं।

आधुनिक काल--यह काल 1947 ई० से वर्तमान तक माना जाता है। इस काल में यहां की स्वयं सेवी संस्थाओं, सायंकालीन पाठशालाओं, विद्यालयों तथा महाविद्यालयों ने संस्कृत के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

स्वातंत्र्योत्तर संस्कृत का विकास—स्वतन्त्रता के बाद संस्कृत के महत्त्व को तथा उस की उपादेयता को सब देशवासियों ने समझा। भावात्मक एकता तथा राष्ट्रीय एकता को सुदृढ़ बनाने के लिए देश के महान नेताओं तथा राष्ट्रभक्तों ने संस्कृत को राष्ट्रभाषा बनाने पर बल दिया। आज़ादी के आंदोलन से, बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय के 'वन्दे मातरम्' के विजयनाद और महामना मदनमोहन मालवीय के त्याग व अनथक प्रयत्नों से देशवासियों को विशेषत: संस्कृत प्रेमियों को प्रेरणा मिली। समूचे देश में संस्कृत के प्रति राष्ट्रीय चेतना जाग्रत हुई। भारोपीय परिवार की मूलभाषा संस्कृत को लोग समझने लगे। इससे भारत की शिक्षा नीति में स्वाभाविक रूप से परिवर्तन हुआ। इसका व्यापक प्रभाव सब राज्यों पर पड़ा। इस दिशा में प्रत्येक राज्य में शिक्षा विभाग की ओर से महत्त्वपूर्ण कदम उठाये गये। फलत: विद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों में संस्कृत को समुचित स्थान मिला। इस दिशा में कश्मीर भी पीछे नहीं रहा।

स्वयंसेवी संस्थाओं का योगदान—संस्कृत के प्रचार व प्रसार में विभिन्न संस्थाओं का योगदान उल्लेखनीय रहा है। इन संस्थाओं में से सर्वप्रथम कश्मीर मण्डल के ब्राह्मणों की एकमात्र प्रतिनिधि सभा 'ब्राह्मण महामंडल' ने धार्मिक साहित्य का प्रकाशन करके लोगों में सांस्कृतिक चेतना जाग्रत करने का प्रयास किया। यहां एक संस्कृत पुस्तकालय तथा वाचनालय में विभिन्न पत्रिकाओं के अतिरिक्त दिल्ली की सुप्रसिद्ध मासिक पत्रिका—'संस्कृतामृतम्' भी आती थी। मंडल के मुख्य कार्यालय में संस्कृत-पांडुलिपियों का एक अनुभाग था जिसमें शारदा लिपि में प्राय: दो सौ पांडुलिपियां थीं। मंडल के महत्त्व पूर्ण प्रकाशनों में से – हररात्रिनिर्णयविधि:, शिवरात्रि पूजाविधि:, पूजा संकलन, मलमास-निर्णय आदि हैं। इस संस्था से प्रतिवर्ष हिन्दी में 'पंचाग' प्रकाशित होता है जिसमें धार्मिक लेख आदि भी होते हैं। कश्मीर में विषम परिस्थितियों के कारण इसका कार्यालय गत सात वर्षों से जम्मू में स्थापित हुआ है। गत पांच दशकों से कश्मीर में 'मंडल' संस्कृत के प्रचार व प्रसार में संलग्न था।

शारदा पीठ रिसर्च सेंटर—इसकी स्थापना कश्मीर के सुप्रसिद्ध संस्कृत विद्वान डॉ० राधाकृष्ण काव ने 1954 ई० में कर्णनगर में की। इस केन्द्र में समय-समय पर संगोष्ठीयों का आयोजन होता था जिसमें स्थानीय विद्वानों के अतिरिक्त विदेशी विद्वान भी सम्मिलित होते थे। इस केन्द्र से 'शारदा पीठ रिसर्च सिरीज़' नाम त्रैमासिक-पत्रिका दो भाषाओं—अंग्रेज़ी तथा संस्कृत में प्रकाशित होती थी। संस्कृत के सम्पादक मण्डल में – प्रो० जगद्धर जी जाडू, डॉ० शिवनाथ शर्मा तथा डॉ० बदरीनाथ कल्ला थे। 1983 ई० में इनके अकाल काल-कवलित होने से पत्रिका के समेत इसकी साहित्यिक गतिविधियां हमेशा के लिए बन्द हो गईं। इनकी अनेक रचनाएं शैवदर्शन पर प्रकाशित हुई है। उनमें Doctrine of Recogni-

tion बहुत ही प्रसिद्ध है। इनके निजी पुस्तकालय में 'काश्यपीय कृषिसूक्ति: नामक एक—बृह्‌दाकार पांडुलिपि थी।

शैव दर्शन मठिका—शैवदर्शन के आचार्य स्वामी लक्ष्मण जी सुरेश्वरी पर्वत की अधित्यका में—स्थित गुप्त गंगा में प्रति रविवार को शैव दर्शन के गूढ़ विषयों पर प्रवचन देते थे। स्थानीय तथा विदेशी प्रौढ़ों को शैवदर्शन के अनेक ग्रन्थ वहां पढ़ाते थे। भारत के प्रतिष्ठित विद्वान श्री ठाकुर जयदेव सिंह ने 'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्' का सम्यक् अवलोकन स्वामी जी के संरक्षण में किया। कई वर्षों में उन्होंने शैवदर्शन ग्रन्थ पढ़े और उनका अनुवाद अंग्रेजी भाषा में किया। उनका पहला ग्रंथ 'प्रत्यभिज्ञा हृदयम्' 1973 ई० में छपकर स्वामी जी को उपहार के रूप में भेंट किया गया। मिथिला निवासी आचार्य श्री रामेश्वर झा स्वामी जी के आध्यात्मिक ज्ञान से बहुत प्रभावित हुए। फलत: झा महोदय ने स्वामी जी को अपना गुरु मानकर स्वामी जी की गुरु-स्तुति संस्कृत में लिखी। विदेशी बुद्धि-जीवियों में से अमेरीका के जॉन ने अनेक वर्षों तक इनके आश्रम में रहकर इनसे शैव-दर्शन के अनेक ग्रन्थों का गहन अध्ययन किया। इनकी शिष्या प्रभादेवी भी इस कार्य में प्रयत्नशील है।

स्वामी जी का संपादन तथा अनुवाद कार्य—

1. आचार्य अभिनव गुप्त की गीता का संपादन (1933)
2. शिवस्तोत्रावली का हिन्दी अनुवाद (1964)
3. क्रमनय प्रदीपिका का हिन्दी अनुवाद।
4. शिवस्तोत्रावली का अंग्रेजी अनुवाद।
5. साम्ब पञ्चाशिका का हिन्दी अनुवाद आदि।

श्रीराम शैवाश्रम—श्रीनगर के फतेहकदल में स्थित यह आश्रम गत तीन दशकों से शैवदर्शन के प्रचार व प्रसार में संलग्न था। यहां प्रति रविबार के दिन प्रौढ़ वर्ग को शैवदर्शन की शिक्षा दी जाती थी। 1990 ई० में श्रीधर जी की मृत्यु से इस आश्रम को काफी क्षति हुई।

स्वामी विद्याधर आश्रम : यह आश्रम श्रीनगर के कर्ण नगर में स्थित था। यहां पर प्रौढ़ों को शैवदर्शन के विभिन्न विषयों से परिचित कराया जाता था। इस आश्रम की संचालक पं० श्री कण्ठ कौल थे।

कश्मीर संस्कृत साहित्य सम्मेलन :—इसकी स्थापना 1956 ई० में श्रीनगर के 'क्वाल खवड़' नामक मोहल्ले में हुई। इस सम्मेलन के मुख्य उद्देश्यों में से संस्कृत प्रचारको द्वारा इस अमर वाणी का प्रसार सारे कश्मीर मंडल में करने के अतिरिक्त खोई हुई प्रतिष्ठा हीन संस्कृत के माध्यम से पुनर्जीवित करना था। अत: इस परम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सर्वप्रथम इसके संस्थापक सदस्यों ने 'भारतीय विद्याभवन' मुंबई द्वारा स्वीकृत संस्कृत परीक्षाओं का संचालन किया। नि:शुल्क रूप से संस्कृत पढ़ाने के लिए सायंकालीन पाठशाला

सम्मेलन के कार्यालय में खोली गई। इसमें श्री त्रिभुवननाथ शास्त्री आदि संस्कृत पढ़ाते थे। कुछ वर्षों में चार सौ विद्यार्थी सम्मेलन से 'भारतीय विद्याभवन' की प्रारम्भिक परीक्षाओं में उत्तीर्ण हुए। यहां यह ध्यातव्य है कि इस पाठशाला में गैर हिन्दू छात्रायें भी संस्कृत पढ़ती थीं। उनके पढ़ने के लिए विशेष रूप से व्यवस्था की गई थी।

साहित्यिक गोष्ठियों, संस्कृत कवि सम्मेलनों तथा कल्हण आदि संगोष्ठियों का आयोजन भी सम्मेलन की गतिविधियों का प्रमुख अंग रहा था। कालान्तर में 'अखिल भारतीय संस्कृत-सम्मेलन' के कर्मठ सदस्यों ने 'विश्व संस्कृत शताब्दी ग्रन्थ: जम्मू व कश्मीर राज्यभाग:' नामक पुस्तक में कश्मीर का भाग लिखने में महत्वपूर्ण योग दान दिया है। डॉ० बदरीनाथ कल्ला ने इस शताब्दी ग्रन्थ में 1886 ई० से 1986 ई० तक के संस्कृत विद्वानों का प्रामाणिक रूप से जीवन परिचय देकर उनकी रचनाओं का भी उल्लेख किया है। इस कड़ी में 1947 ई० के बाद आने वाले संस्कृत विद्वानों तथा लेखकों में निम्न लेखकों के व्यक्तित्व तथा कृतित्व पर प्रकाश डाला गया है। प्रो० जगद्धर जाडू, प्रो० गोविन्द राजदान पं० हरभट्ट शास्त्री, पं० नाथराम कल्ला शास्त्री, पं० बलजिनाथ शास्त्री, पं० गोविन्द भट्ट शास्त्री, पं० केशव भट्ट ज्योतिषी, प्रो० पृथ्वीनाथ 'पुष्प', डॉ० राधाकृष्ण काव, पं० मधुसूदन कौल शास्त्री, प्रो० श्री कण्ठ कौल आदि। यह शताब्दी ग्रन्थ 1966 ई० में प्रकाशित हुआ तथा भारत के द्वितीय प्रधानमंत्री श्री लाल बहादुर शास्त्री को समर्पित किया। नि:सन्देह इस सम्मेलन ने यहां के युवावर्ग को संस्कृत में लिखने बोलने तथा रचना करने की प्रेरणा दी। वास्तव में आज की पीढ़ी जिस प्रकार संस्कृत-प्रचार तथा साहित्य सृजन के प्रति जागरूक तथा प्रयत्नशील है, उसका आदि स्रोत—'कश्मीर संस्कृत साहित्य' सम्मेलन' है।

विद्यालयों तथा महाविद्यालयों में संस्कृत :—आर्य समाज के तत्त्वाधान में संचालित हजूरी बाग में स्थित 'देवकी आर्यपुत्री पाठशाला' प्राइवेट विद्यालयों में एक आदर्श विद्यालयों में एक आदर्श विद्यालय माना जाता था। वहां संस्कृत विद्यार्थियों की संख्या अन्य विद्यालयों में अपेक्षाकृत अधिक थी।

श्री रूपा देवी शारदा पीठ :—अन्तिम डोगरा शासक महाराजा हरिसिंह के समय के महालेखा पाल (Accountant general) श्री परमानन्द 'दर्दि' ने अपनी सुपुत्री श्री रूपादेवी के नाम पर 'श्री रूपा देवी शारदा पीठ' की स्थापना 1953 ई० में फतेह कदल में स्थित रघुनाथ मन्दिर के प्राङ्गन में की। इसमें पहले-पहल प्राज्ञ विशारद तथा शास्त्री तक जम्मू व कश्मीर विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम के अनुसार छात्राओं को शिक्षा दी जाती थी। इसके प्रथम प्राचार्य उधमपुर के मूर्धन्य विद्वान श्री दयाराम शास्त्री थे। इस प्राच्य विद्या विभाग में दो जिन प्राध्यापकों की नियुक्ति की गई थी वे थे श्री जगन्नाथ ब्रारू शास्त्री और बदरीनाथ कल्ला शास्त्री। प्राचार्य महोदय के दिशानिर्देश में इस विभाग ने काफी उन्नति की। परिणामस्वरूप पांच छात्रायें उस समय शास्त्री परीक्षा में उत्तीर्ण हुईं। श्री परमानन्द के निधन

के बाद यह 'ओरियण्टल विभाग सुव्यवस्थित रूप से चल न सका। बाद में छः वर्षों के बाद यह विभाग विद्यालय में परिवर्तित हुआ। इस विद्यालय की विशेषता यह थी कि इसमें मुस्लिम विद्यार्थी संस्कृत पढ़ रहे थे। इस 'शारदापीठ' ने कई वर्षों तक 'भारतीय विद्या भवन' की संस्कृत परीक्षाओं का संचालन भी किया था।

परमानन्द रिसर्च इन्स्टीच्यूट :—यह अनुसन्धान संस्थान 1947 ई० से संस्कृत के विभिन्न विषयों पर शोध कार्य कर रहा था। इसके प्रथम निदेशक प्रो० काशीनाथ दर थे। उनके समय संस्थान ने अनुसंधान की दिशा में महत्त्वपूर्ण काम किया। इस संस्थान के प्रकाशनों में से अमरेश्वर माहात्म्य (हिन्दी तथा अंग्रेज़ी अनुवाद सहित) राज्ञी प्रादुर्भाव (अंग्रेज़ी तथा हिन्दी में) तथा वटुकपूजा। भारत सरकार की एक परियोजना के अन्तर्गत श्रीवर की 'राजतरङ्गिणी' का अनुवाद प्रो० काशीनाथ दर ने अंग्रेज़ी में किया। वह प्रकाशित भी हुआ है।

राजकीय संस्कृत पाठशाला :—महाराजा रणवीर सिंह ने 1870 ई० में इस पाठशाला की स्थापना श्रीनगर के 'बागि दिलावर खां' के परिसर में की। इस पाठशाला में पहले पंजाब विश्वविद्यालय बाद में जम्मू व कश्मीर विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम के अनुसार शास्त्री परीक्षा तक निःशुल्क रूप से संस्कृत पढ़ाई जाती थी। विद्यार्थियों को योग्यतानुसार छात्रवृत्ति भी दी जाती थी। आज़ादी के बाद जम्मू व कश्मीर के तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री शेख मोहम्मद अब्दुल्ला ने 1949 ई० में इस पाठशाला को 'गवर्नमेंट ओरियण्टल कालेज' में परिवर्तित कर दिया। इस समय इस कालेज में अरबी, फ़ारसी तथा उर्दू में 'आनर्स' परीक्षाओं तक ये भाषायें पढ़ाई जाती हैं। राजकीय संस्कृत पाठशाला/ गवर्नमेंट ओरियण्टल कालेज में प्राध्यापक संस्कृत के भिन्न-भिन्न विषय पढ़ाते थे।

इस ओरियण्टल कालेज' से सैंकड़ों की संख्या में विद्यार्थी शास्त्री में उत्तीर्ण हो गए जिनमें कुछ विद्यालयों, महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों में प्राध्यापक के रूप में काम करते हैं। कश्मीर की प्राचीन परम्परा को यानी अध्ययन तथा अध्यापन को पुनर्जीवित करने में 'ओरियण्टल कालेज' के संस्कृत विभाग का योगदान भुलाया नहीं जा सकता। संस्कृत के कवियों, लेखकों, समीक्षकों तथा शोधकों को इस विभाग ने पैदा किया तथा उनको साहित्यिक क्षेत्र में एक नई दिशा मिली। फिर संस्कृत विभाग को कालान्तर 1970 ई० में बन्द कर दिया गया।

कश्मीर विश्वविद्यालय में पहले पहल 'स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग' की स्थापना आज से प्रायः बीस साल पहले हुई थी। इस विभाग के अध्यक्ष डॉ० राधाकृष्ण काव थे। बाद में इस विभाग को जम्मू में स्थानान्तरित किया गया। कालान्तर में पुनः इस विभाग की स्थापना 1983 ई० में हुई जिससे अनेक विद्यार्थियों को लाभ पहुंचा। जहां श्रीनगर, अनन्त नाग और सोपोर के कालेजों में छात्र संस्कृत पढ़ते थे।

मध्य एशियाई विभाग की स्थापना : जम्मू व कश्मीर राज्य के मुख्यमंत्री श्री शेख मुहम्मद अब्दुल्ला के प्रयत्नों से 'मध्य एशियाई विभाग' की स्थापना 1979 ई॰ में कश्मीर विश्वविद्यालय में हुई। इस समय इस विभाग में एक निदेशक है तथा अन्य प्राध्यापक मध्य एशिया के विभिन्न विषयों पर कार्य कर रहे हैं।

कश्मीर शैव दर्शन केन्द्र :—'राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान' के तत्वाधान में श्री रणवीर केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ' की उपशाखा—'कश्मीर शैव दर्शन केन्द्र' के नाम से श्रीनगर—के जवाहर नगर—में स्थापित हुई। इस केन्द्र के निदेशक डॉ॰ बलजिनाथ पण्डित थे। इस केन्द्र के साथ दो स्थानीय संस्कृत विद्वान जुड़े हुए थे—प्रो॰ नीलकण्ठ गुरुटू तथा श्री दीनानाथ शास्त्री (यक्ष)। बाद में यह केन्द्र जम्मू में स्थानान्तरित हुआ। इस केन्द्र की एक वृहत् परियोजना के तहत 'शैवदर्शन कोश' निर्माण हुआ।

कश्मीर में पहली श्री संस्कृत पत्रिका :—डॉ॰ कुलभूषण के संस्कृत के प्रति अनन्य अनुराग के कारण यहां 1988 विक्रमी संवत् में प्रोफेसर नित्यानन्द शास्त्री के संपादकत्व में त्रैमासिक 'श्री पत्रिका' संस्कृत में प्रकाशित हुई। यह पत्रिका बारह वर्षों तक निरन्तर रूप से प्रकाशित होती रही। इसमें विशेषत: स्थानीय विद्वानों डॉ॰ श्रीनाथ तिक्कू, डॉ॰ शिवनाथ शर्मा तथा श्री राम जी वांगनू आदि की शोधात्मक रचनाएं प्रकाशित हुई हैं। कश्मीर के सुप्रसिद्ध विद्वान प्रो॰ गोविन्द जी राज़दान ने अकबर के बाद डोगरा शासन तक 'राजतरङ्गिणी' के आधार पर कश्मीर का इतिवृत्त लिखा था।

प्रो॰ श्री कण्ठ कौल—डॉ॰ स्टीन के बाद इनका शोधात्मक कार्य इस दिशा में मील पत्थर की तरह समझा जाता है।

डॉ॰ बलजिन्नाथ पण्डित :—राष्ट्रपति पुरस्कार से सम्मानित डॉ॰ बलजिन्नाथ का शैवदर्शन के क्षेत्र में प्रमुख स्थान है। आपकी मौलिक रचनायें विभिन्न भाषाओं में—हिन्दी संस्कृत तथा अंग्रेज़ी में प्रकाशित हुई हैं।

पं॰ मोती लाल शास्त्री पुष्कर :—इन्होंने इकबाल की प्रसिद्ध कविताओं का संस्कृत-पद्यों में अनुवाद किया। पुस्तक का नाम—'इकबाल काव्य दर्शनम्' है इसके अतिरिक्त इनकी अनेक कवितायें संस्कृत में प्रकाशित हुई हैं।

पं॰ जगन्ननाथ रिवू शास्त्री :—इन्होंने 'श्रद्धानन्द चरितम्' नामक काव्य संस्कृत में लिखा। इसके अतिरिक्त अपनी 'परिजात मंजरी' नामक एक पुस्तक में कश्मीर के सुप्रसिद्ध संत परमानन्द की कश्मीरी कविताओं का अनुवाद संस्कृत में भी किया है।

हरभट्ट शास्त्री :—इन्होंने कश्मीर शैवदर्शन सम्बन्धी अनेक पुस्तकों का संशोधन तथा संपादन किया है। इसके अतिरिक्त डॉ॰ बदरीनाथ कल्ला ने भी संस्कृत भाषा के उत्थान में विशिष्ट भूमिका निभायी है। राष्ट्रीय एकता के संदर्भ में उन्होंने संस्कृत भाषा में गीतों का कैसेट भी निकाला हैं। जिसे डा॰ फारुख अब्दुल्ला ने लोकार्पित किया है। इस 'कैसेट' में कश्मीरी, उर्दू आदि भाषाओं के राष्ट्रीय गान भी सम्मिलित हैं। जम्मू व कश्मीर राज्य में सबसे पहले डा॰ बी॰ एन॰ कल्ला ने 'कश्मीरी भाषा तथा संस्कृत का तुलनात्मक अध्ययन' जैसा विशिष्ट शोध प्रबन्ध दिया है।

यद्यपि आजकल कश्मीर में प्राचीन काल की तरह संस्कृत बोली नहीं जाती है। तथापि यह स्पष्ट है कि इन पचास वर्षों में कश्मीर में संस्कृत भाषा ने विविध आयाम देखे। वर्तमान में तो विषमताओं के कारण इसकी प्रगति को लेकर कुछ सम्भाव्य नहीं जान पड़ता फिर भी आशा तो की ही जा सकती है। □

संदर्भ :

1. कल्हण कृत राजतरंगिणी—डॉ० स्टीन द्वारा संपादित।

2. कीथ कृत संस्कृत साहित्य का इतिहास—अनुवादक, डॉ० मंगलदेव शास्त्री।

3. विश्व संस्कृत शताब्दी ग्रन्थ: जम्मू व कश्मीर राज्य-भाग: (इस सदी के संस्कृत विद्वान—1886—1986 तक।

   लेखक :—डॉ० बी० एन० कल्ला, प्रकाशक, अखिल भारतीय संस्कृत साहित्य सम्मेलन, नई दिल्ली 1966।

4. क्षेमेन्द्र कृत—लोक प्रकाश, प्रो० जगद्धर जाडू द्वारा संपादित।

5. Kashmir Then & Now—G. L. Koul.

6. A History of Kashmir --P. N. Kaul, Bamzai.

7. कश्मीरी भाषा तथा संस्कृत का तुलनात्मक अध्ययन: डॉ० बी० एन० कल्ला—लेखक का शोध प्रबन्ध।

8. जोनराजकृत-राजतरङ्गिणी—प्रो० श्रीकण्ठ कौल द्वारा संपादित।

9. कश्मीरी संस्कृत शिलालेख : —बदरीनाथ कल्ला शास्त्री।
   Published in the Proceedings of International Sanskrit Conference, 1972.

जम्मू-कश्मीर में लोकतंत्र की स्थापना

□ डॉ० देवराज बाली

1857 में विदेशी शक्तियों के विरुद्ध जिस महासंग्राम का शुभारम्भ रानी लक्ष्मीबाई, तांतिया टोपे एवं मुग़ल सम्राट बहादुरशाह जफर जैसे देश भक्तों के द्वारा हुआ था। उसकी परिणिति 15 अगस्त .947 को हुई जब भारत को एक पूर्ण रूप से स्वतंत्र राष्ट्र कहलाने का गौरव प्राप्त हुआ। अपने ही देश में मौलिक अधिकारों से वंचित तथा विदेशी हुक्मरानों के कानूनों को मानने के लिए बाध्य समस्त भारतवासियों के लिए यह दिन निश्चय ही नवजीवन प्राप्त करने जैसा था। इस देश के असंख्य वीरों ने स्वतंत्रता प्राप्ति हेतु इस महायज्ञ में अपने जीवन की आहूति देकर यह सिद्ध कर दिया कि व्यक्तिगत जीवन तथा सुख से कहीं अधिक महत्वपूर्ण होता है एक समृद्ध राष्ट्र जीवन।

आज हमें स्वतंत्र हुए 50 वर्ष बीत गये हैं। विभाजन की त्रासदी को जिन लोगों ने देखा और भोगा है उनसे यदि आप आजादी प्राप्त करने के सुख एवं विभाजन के दुःख से तुलना करने को कहें तो शायद उनके साथ विभाजन की प्रक्रिया के साथ संबंधित अनुभवों की एक लम्बी कथा होगी। परन्तु वास्तव में देश के लोगों ने तो स्वतन्त्रता प्राप्ति के सुख का अनुभव ही नहीं किया, उन्होंने तो सारी प्रक्रिया में केवल दुःख ही दु.ख देखा और झेला है। मैं जम्मू व काश्मीर राज्य के एक नगर मुज़फ्फराबाद के संदर्भ से जुड़ते हुए कहना चाहता हूं कि यह एक सम्पन्न नगर के रूप में तथा जिला मुख्यालय के रूप में कश्मीर तथा पंजाब और उत्तर पश्चिम सीमांत प्रदेश के बीच अत्यन्त महत्वपूर्ण व्यापारिक केन्द्र था। भाषा एवं संस्कृति की दृष्टि से बाकी कश्मीर से सर्वथा भिन्न मुजफ्फराबाद के लोग सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से झेलम (पंजाब) तथा सीमांत प्रदेश के लोगों के साथ अधिक जुड़े हुए थे। सरकारी नौकरियों में अधिक भागीदारी तथा व्यापार में अधिक सम्पन्न होने के कारण हिन्दू समुदाय अधिक समृद्ध था फिर भी राजनैतिक रूप से डोगरा हिन्दू शासन के बावजूद स्थानीय मुस्लिम जागीरदारों के ही संरक्षण में तथा प्रभाव रहता था। तत्कालीन

सामाजिक व्यवस्था ऐसी थी कि जहां मुस्लिम जागीरदार बहुत न्यायप्रिय थे और हिन्दुओं को कभी शिकायत का मौका नहीं देते थे। ज़िला मुख्यालय से उत्तर-पूर्व की ओर कृष्णगंगा के किनारे 8 मील के फासले पर एक छोटा परन्तु अति समृद्ध गांव था कहोड़ी। 15 अगस्त 1947 से पहले मैं तब बहुत छोटा था और धुंधली यादों के झरोखे से जब आज देखता हूं तो कई बातें स्मृति पटल पर ताजा होती प्रतीत होती हैं।

क्षेत्र की पूरी आबादी में मुसलमानों की संख्या अधिक थी और मुस्लिम जागीरदारों का पूरा प्रभुत्व था। ये लोग सम्भवत: सीमांत क्षेत्र से आकर रियासत में बसे हुए थे क्योंकि वेशभूषा और रहन-सहन में ये लोग पंजाबी या पठानों जैसे थे अलबत्ता भाषा पंजाबी ही बोलते थे। पाक अधिकृत क्षेत्र का नेता सरदार अब्दुल क्यूम खान सम्भवत: उन्हीं में से एक है। शायद तत्कालीन वातावरण को लेकर सम्भावित खतरे को देखते हुए उस क्षेत्र में सुरक्षा की भावना पैदा करने के लिए रियासत के शासकों ने कहोड़ी में सेना की एक टुकड़ी तैनात कर दी थी। जहां तक मुझे याद है उस टुकड़ी के पास किसी बड़े आक्रमण का मुकाबला करने की कोई क्षमता नहीं थी परन्तु गांव के लोगों के लिए सेना की तैनाती एक अशुभ संकेत था।

जम्मू व कश्मीर उस समय अंग्रेजों के अधीन एक स्वतन्त्र रियासत थी। शेख मुहम्मद अब्दुल्ला उन दिनों नेशनल कांफ्रेंस के नेता थे। भारत की आज़ादी के साथ ही राज्य की आज़ादी की बात जुड़ी हुई नहीं थी। मुझे याद हैं वह दिन जब पंडित जवाहर लाल नेहरू ऊड़ी के डाक बंगले में ठहरा दिये गए थे। मैं उस समय ऊड़ी के स्कूल में पढ़ता था और स्कूल जाते हुए मैंने बाकी बच्चों के साथ कौतूहलवश नेहरू जी को डाकबंगले के बरामदे से निकलते देखा था। उसके तुरन्त बाद ही तबादले के कारण मेरे पिता जी कहोड़ी आ गये थे और मैं इस प्रकार 15 अगस्त से पहले वहीं था। रियासत की अपनी विशिष्टता के बावजूद वस्तुस्थिति यह थी। दिल्ली में उस समय तेज़ी से जो घटनाक्रम चल रहा था उसकी आंच कहोड़ी जैसे सुदूर क्षेत्र में भी लोगों को अनुभव होने लगी थी। इसके होते हुए भी जनजीवन सामान्य था और विभिन्न समुदायों के आपसी रिश्तों की मधुरता में कोई कमी नहीं आई थी।

देश विभाजन के साथ ही वे मुस्लिम जागीरदार प्रभावित हुए जो भावात्मक रूप से पंजाब और सीमांत प्रदेश से जुड़े थे। इसके साथ ही स्वतन्त्र मुस्लिम राष्ट्र की स्थापना का अधिकांश मुस्लिम वर्ग पर भी प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। इसके साथ ही अल्पसंख्यक समुदाय असुरक्षा की भावना से त्रस्त अनुभव करने लगा। यह सब केवल मानसिक रूप से ही था क्योंकि भौतिक रूप से अभी कोई अन्तर नहीं पड़ा था। अचानक 15 अगस्त 1947 के बाद कहोड़ी और उसके आसपास बसे हिन्दू एवं सिख बिना किसी कारण के अपना कीमती सामान तथा औरतों-बच्चों को जिला मुख्यालय की ओर भेजने लगे। वास्तव में अंग्रेज़ी सरकार के अन्त के कारण राज्य को जो संरक्षण दिल्ली से मिल रहा था वह समाप्त हो गया। मुज्जफराबाद का ज़िला मुख्यालय आस-पास से आ रहे हिन्दुओं तथा सिखों से भर गया। ऐसी हालत कहोड़ी में हिन्दू परिवारों के गिने चुने मर्द बाकी रह गए और अधिकांश लोग गांव छोड़ गए। वहां के लोग इस स्थिति से प्रसन्न नहीं

थे क्योंकि वे बराबर लोगों को पलायन न करने को कह रहे थे। हम भी सब के साथ कहोड़ी को अलविदा कह कर सुरक्षित स्थान पर आ गये थे। यह बात सितम्बर 1947 की है। यहां यह बताना संगत है कि राज्य के सीमांत क्षेत्रों में रहने वाला बहुसंख्यक मुस्लिम समुदाय महाराजा के शासन के प्रति पूरी तरह वफादार था और बदलते हुए हालात को बड़ी चिन्ता की दृष्टि से देख रहा था। स्थानीय खान परिवारों के जागीरदार पूर्ण रूप से धर्मनिरपेक्ष और न्याय प्रिय थे इसलिए उनकी ओर से हिन्दुओं को कोई डर नहीं था। परन्तु त्रासदी का मुकाबला करने के लिए मुस्लिम समुदाय के जिम्मेवार और बहादुर लोगों ने सराहनीय काम किया। यहां तक कि पलायन कर गये कई परिवार जिला मुख्यालय से अपने घरों को वापिस लौट गए।

दुर्भाग्य से यह स्थिति अधिक देर तक न रह सकी और 22 अक्तूबर को बहुत सवेरे पाकिस्तान सेना के समर्थन से कबाईलियों के एक बड़े काफले ने मुज्जफराबाद पर धावा बोल दिया। सीमा पर राज्य के मुट्ठी भर सैनिक उन का क्या मुकाबला करते। जनमानस ने एक भीषण विनाश देखा।

यह गौरव की बात है कि इस रियासत के सब लोगों ने जिनमें मुस्लिम समुदाय के अनेक वीर शामिल थे आक्रमणकारी कबाईलियों का डट कर मुकाबला किया और आपसी भाईचारे और सद्भाव की ऐसी मिसाल कायम की जो स्वातंत्र्योत्तर काल के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित होने योग्य है। फिर यह राज्य भी बाकी राज्यों के समान आज़ाद हुआ और यहां भी लोकतंत्र स्थापित हो गया। □

जम्मू कश्मीर में महिलाएं : प्रगति और अधिकार

□ डॉ. निर्मल कमल

कहना न होगा कि भारत की स्वतन्त्रता के बाद संविधान की धारा 13, 14, और 29 के अनुसार राज्य की महिलाओं को भी प्रगति के वे सारे अधिकार समान रूप से प्राप्त हैं जो देश की अन्य महिलाओं को प्राप्त हैं, प्रगति के अधिकारों का अर्थ उन सब क्षेत्रों की प्रगति है जिससे देश व मानव की वैयक्तिक प्रगति सम्भव हो सकती है। यानि शिक्षा से लेकर आर्थिक विकास तथा आत्मनिर्भरता के लिए, राजनीति तथा समाज में अपना एक विशेष स्थान बनाये रखने के लिए उसे संविधान ने पूर्ण रूप से सक्षम बनाने का प्रयत्न किया है, यही कारण है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के पचास वर्षों के पश्चात आज की नारी ने भी प्रगति के बहु आयाम देखे हैं। आधुनिक भारत में वह अपने लिए देश के लिए और समाज के लिए पूर्ण रूप से कार्यरत और जागरूक है।

ठेठ घरेलूपन से लेकर अध्यापन, चिकित्सा, समाज सेवा, कानून व्यवस्था, औद्योगिकता विज्ञान, राजनीति कला, संस्कृति, लेखन तथा पत्रकारिता आदि जीवन के हर क्षेत्र में, उसने अपने अदम्य साहस और कर्मठतापूर्ण कार्यकौशल तथा अपनी सक्षमता का लोहा मनवाया है। आज की नारी अपनी आंतरिक प्रतिभा को समाज व देश के लिये अर्पित करने के लिए उद्यत है।

लेकिन क्या यह तस्वीर इतनी सहज है ? इसके आगेप्रश्न चिह्न लगना बड़ा स्वाभाविक है। क्या वह सचमुच ही इतनी सबल है ? क्या वह आर्थिक रूप से पूर्णत: स्वतन्त्र है ? क्या वह अपना सक्रियता सार्थक कर पाई है, या फिर क्या मनु सर्जित समाज उसे वह स्थान दे सका है ? यानि क्या सच ही महिलाएं प्रगति की ओर अग्रसर हैं ? ऐसे प्रश्न देश के प्रति निष्ठावान किसी भी संवेदनशील मन की उपज हो सकते हैं। ये प्रश्न आज के सन्दर्भ में अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं जिनका विश्लेषण करने के बाद ही आगे की बात निर्धारित की जा सकती है।

आज वास्तव में स्वतन्त्रता के पचास वर्ष बाद भी ये प्रश्न सन्देह उत्पन्न करते हैं जो किसी भी समाज व देश की उन्नति में जहां आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करते हैं, वहां आगे बढ़ने में बाधा भी उत्पन्न करते हैं। जब महिलाओं की तथाकथित प्रगति की बात उठती है तो इसका सहज विश्लेषण अनिवार्य हो जाता है।

मनुस्मृति में वर्णित नियमों का शिकार भारतीय नारी ही रही है। देश में उसके लिये समाज ने उसी कानून को सर्वोपरि माना है कार्यान्वित भी किया है। चाहे भारत 1947 में बाहरी ताकतों से स्वतन्त्र हुआ लेकिन समाज के प्राचीन नियमों से अभी तक स्वतन्त्र नहीं हो पाया है। 'सोशलिस्टिक पैटर्न आफ सोसाइटी' का सपना समाज के नियमों से अभी भी बंधा हुआ है। एक ओर समाज का कड़ा अनुशासन और दूसरी ओर राजनीतिज्ञ पुरुष वर्ग के स्वार्थ दोनों ने उसे अभी भी पूर्ण रूप से नारी को मान्यता नहीं दी है।

जम्मू कश्मीर के सन्दर्भ में जब इन प्रश्नों का विश्लेषण करते हैं तो यह पाते हैं कि जम्मू व कश्मीर की महिलाएं देश की अन्य महिलाओं की प्रगति की दृष्टि से आज भी बहुत पिछड़ी हुई हैं।

जम्मू व कश्मीर की अनुमानित जनसंख्या 77.19 लाख है जबकि महिला वर्ग की संख्या केवल 37.05 लाख है। शिक्षा की दर 1981 के आंकड़ों के अनुसार 26.67 प्रतिशत है और इस में से स्वतन्त्रता के पचास वर्ष उपरांत भी केवल 0.76% महिलाएं स्नातक हुई हैं। स्वतन्त्रता के पश्चात् शिक्षा का मूल अधिकार भी अभी तक इस वर्ग को नहीं मिला है। इनमें से भी अधिकतर जम्मू व कश्मीर जैसे नगरों में इन की संख्या बढ़ी है जबकि ग्रामीण और पिछड़े इलाकों में यह दर और भी कम है। इस रियासत में, जिसे धारा 3 0 के अन्तर्गत, विशेष सुविधाएं मिली हुई हैं भारतीय संविधान की सभी धाराएं लागू होने पर भी शिक्षा की इतनी कम दर होना यह प्रमाणित करता है कि शिक्षा के क्षेत्र में महिलाएं बहुत पिछड़ी हुई हैं, जम्मू व कश्मीर के नगरों में भी यह दर 32 और 40 के बीच में है। यानि पचास वर्षों में 50% भी नहीं है। आज भी हम अपनी आधी जनसंख्या को शिक्षित नहीं कर सके। यह कितना त्रासद है।

आज जबकि महिला को सशक्ततर बनाने की बात उठी है। उसके राजनैतिक क्षेत्र में प्रवेश की प्रतिक्रिया भी सामने आई है। जब तक नारी सामर्थ्यवान नहीं होती तब तक वह बाहरी ताकतों के कंधे से कन्धा मिलाकर प्रगति की ओर अग्रसर नहीं हो सकती। देश व राज्य में पनपते अनाचार, भ्रष्टाचार को हटाने में उसका सहयोग अत्यन्त आवश्यक है और इसके लिए उसका समर्थ होना भी उतना ही आवश्यक है। जम्मू व कश्मीर के संविधान अनुसार बिधान सभा में उसके लिये आरक्षण न्यूनतम है। यह एक हास्यास्पद स्थिति है जहां वह 30% की मांग कर रही है वहां उसे इस सुविधा से भी वंचित रखा जा रहा है। यही नहीं 1996 में हुए चुनाव में प्रत्येक राजनैतिक दल ने संकुचित मन से 'न' के बराबर महिलाओं को चुनाव क्षेत्र में प्रवेश करने दिया। इससे पहले उनका प्रवेश अधिकतर नामांकन द्वारा ही रहा है, इसी तरह सबसे प्रबल वर्तमान राजनीतिक दल ने भी महिलाओं

को एक ही अवसर दिया। कहने का अभिप्राय यह कि भारतीय नारी ने जब आज समर्थ होने के लिये अपना स्वर ऊंचा किया तो समर्थ पुरुष वर्ग ने उसे दबाना ही ठीक समझा।

इस तरह से बहुत से कानून भी बनाये गये। भारतीय संविधान और रियासत के अपने संविधान के अनुसार महिलाओं के साथ किसी किस्म का भेदभाव न हो ऐसा प्रावधान है। (धारा 15) पर कानून तथा नियमों को अपने हित के अनुसार ढाल कर पालित किया जाता है। इससे महिलाओं की प्रगति की राह बाधित हुई है।

बहुत से ऐसे कानून महिलाओं की सुविधाओं के लिये बने भी हैं। जैसे मैटर्निटी बेनिफिट ऐक्ट 1961 और इक्युल रिम्युनिरेशन एक्ट 1976 और फिर अन्य सुविधाएं जो इण्डियन लेबर एक्ट के अनुसार महिलाओं के लिये सुरक्षित हैं। ये सुविधाएं जैसे बराबर वेतन मैटर्निटी लीव इत्यादि हैं। लेकिन प्रायः सरकारी और गैर सरकारी संस्थाओं में काम करने वाली महिलाओं के साथ अन्याय होता है। इन नियमों का पालन नहीं किया जाता है, उन्हें बहुत कम वेतन मिलता है और प्रायः काम (विशेष तौर पर कन्स्ट्रक्शन और औद्योगिक संस्थाओं में मज़दूर औरतों से) भी अधिक लिया जाता है। प्रायः काम करने में सक्षम होने के बावजूद भी इन महिलाओं को औद्योगिक संस्थानों में काम नहीं मिलता है।

जो महिलाएं अपनी योग्यता के बल पर समाज में अपना स्थान बनाये हुए हैं उन महिलाओं को अभी समाज पुरुषों के बराबर मानने को तैयार नहीं। ज्यादा से ज्यादा उनको समाज कल्याण के क्षेत्र में ही मान्यता मिल सकती है। एक नागरिक होने के कारण नहीं। किसी महिला का स्वतन्त्र रूप से नागरिक होना उसकी पहचान नहीं बल्कि पुरुष की ही देन माना जाता है। इकाईयों में बंटी हुई महिला आज भी एक पूर्ण इकाई के रूप में न उभर पाने के लिए विवश है। आधुनिक समाज की यह सोच स्पष्ट है। पचास वर्षों में संविधान में दिये गये अधिकारों को, नियमों का यदि पूर्णतः पालन किया गया होता तो आज हमारे राज्य की महिलाएं भी भारत की अन्य महिलाओं की तरह आगे होतीं। अपनी राज्य की स्थिति को उन्नत करने में और भी योगदान दे पाती। उनकी सबसे बड़ी बाधा है 'स्टेट सब्जेक्ट' यानि इस राज्य में उनकी पहचान का पत्र। भारत और रियासत का संविधान पुरुषों और महिलाओं का समान व्यवहार की दिशा तो देता है लेकिन रियासत का अपना संविधान इस अधिकार से यहां की बेटियों को वंचित करता है। इस एक त्रुटि के कारण उन्हें अन्य अधिकारों से भी वंचित रहना पड़ता है। आज समाज में आये दिन दहेज-प्रथा व अन्य आर्थिक कारणों से विवश बेटियां अग्नि की भेंट हो जाती हैं, लेकिन इसका मूल कारण और वर्तमान व्यवस्था और कानून भी है। 'स्टेट सब्जैक्ट' के अधिकार से वंचित होना उनसे रियासत में शिक्षा, पैतृक सम्पत्ति व अन्य आर्थिक सम्पत्ति, सरकारी संस्थानों में नौकरी का अधिकार छीन लेता है यदि जम्मू व कश्मीर राज्य की महिलाएं राज्य से बाहर रहने वाले व्यक्ति के साथ विवाह करती हैं तो उन्हें हानि पहुंचती है। कानून पिछले पचास वर्षों से लागू है, उधर देश स्वतन्त्र हुआ और इधर महिलाएं इस अन्धे कानून के पंजे में आ गईं। यही नहीं यदि वह रियासत के पुरुषों से भी विवाह करें तो भी उन्हें अलग से एक और 'पहचान पत्र'

बनाना पड़ता है। उनकी अपनी पहचान समाप्त हो जाती है। वे सम्पत्ति तक नहीं खरीद सकतीं जब तक विवाहोपरांत की पहचान साथ में न हो। स्पष्ट है कि उनसे राज्य का नागरिक होने का विशेषाधिकार छिन जाता है विवाह के पश्चात् चाहे वह राज्य के भीतर हों या राज्य के बाहर। इसके लिये कुछ महिलाओं ने न्याय के लिए अदालत में आवेदन भी किये पर अभी तक निर्णय ही नहीं हो सका। फलस्वरूप कुछ महिलाओं को नौकरी से हाथ धोना पड़ा तो अन्य 'प्राइवेट' संस्थाओं में नौकरी खोजती फिरीं।

यह भी सच है कि महिलाएं जहां ऐसे अधिकारों से वंचित है वहीं अन्य महिलाओं ने ऐसे क्षेत्र में काम करने का साहस किया जो केवल पुरुषों तक ही सीमित थे। औद्योगिक क्षेत्र में आज उन्होंने एक विशिष्ट पहचान बनाई है।

देश की प्रगति को लेकर प्रश्न उठता है कि जो महिलाएं सरकारी व गैर सरकारी संस्थानों में काम कर रही हैं क्या वह आर्थिक रूप से उतनी ही स्वतन्त्र हैं? मूलत: वे केवल धन कमाने का यन्त्र बन चुकी हैं और वह स्वतन्त्र होकर स्वतन्त्रता के अर्थों से कोसों दूर है। घरेलू काम-काज में जुटी महिलाएं भी स्वतन्त्रता से कार्य नहीं कर पातीं हालांकि उनके कार्य का मूल्यांकन सम्भव नहीं है। अधिकतर महिलाएं नौकरी अपनी इच्छा से नहीं बल्कि मजबूरी में करती है। ताकि पारिवार की आर्थिक दशा सम्भल जाए। यह भी सत्य है कि दहेज न लेकर वर पक्ष के लोग नौकरीपेशा वधु की तलाश में रहते हैं—जो एक तरह से दहेज लेने का दूसरा तरीका है। आर्थिक कारणों से महिलाएं अत्याचारों का शिकार अधिक हो रही हैं। कारण उन्हें उनके अधिकारों से वंचित रखा जाता है। जब तक उन को शैक्षिक, आर्थिक, कानूनी और राजनैतिक अधिकार मूल रूप से नहीं मिलते उनकी प्रगति देश की प्रगति नहीं बन सकती। जम्मू व कश्मीर राज्य में हाल में ही 'सोशल वेल्फेयर विभाग' और 'वूमॅन डिवेल्पमेंट कारपोरेशन' ने अपनी विशिष्ट सक्रियता दिखाई है। पर हमारा राज्य अभी भी 'नेशनल कमीशन फार वूमॅन' की सुविधाओं से वंचित है।

किसी भी देश की प्रगति के लिये नारी का सक्षम होना अत्यन्त आवश्यक है। उसके व्यक्तित्व की परिपक्व पहचान के लिये उसे भारत भर की महिलाओं के स्तर पर लाना भी ही आवश्यक है। राज्य ने पचास वर्ष में तब से अब तक प्रगति की कई दिशाएं खोजीं। लेकिन महिलाओं के कंधे पर परतंत्रता का जुआ वैसा ही बना हुआ है। यदि देश प्रगति चाहता है तो राज्य की प्रगति के लिए उत्तरोत्तर नई राहें बनायें। यदि राज्य प्रगति चाहता है तो महिलाओं की प्रगति के रास्ते उजागर करे न कि उन्हें उनके अधिकारों से वंचित रखे और उनका अनाधिकार शोषण करे। ताकि महिलाओं के लिये भी 'आजादी' का अर्थ 'आजादी' ही हो। □

इन्सानियत के मसीहा : शेख मुहम्मद अब्दुल्ला और देश विभाजन

□ हरबंस सिंह रैना

अनु० डॉ० आशा गुप्ता

15 अगस्त 1947 के दिन सौ साल तक कंधों पर गुलामी का जुआ ढोते भारत ने स्वतन्त्रता से साक्षात्कार किया। जिसकी पूर्व संध्या पर नेहरू जी ने कहा था "आधी रात को जब सारी दुनिया नींद में सो रही होगी तो भारत अपनी सदियों की नींद से जागेगा और तब इसके भाग्य का एक नया अध्याय आरम्भ होगा।"

हमारी पीढ़ी उपमहाद्वीप के इतिहास में एक भाग्यशाली पीढ़ी है, जिसने इस घड़ी को अपनी आंखों से देखा और स्वतंत्र भारत का नागरिक होने का गौरव प्राप्त किया। मानव असंख्य लोग बेघर होकर अपने चूल्हे चौके, जायदाद, ज़मीन को तिलांजलि देकर विस्थापन की त्रासदी जीने के लिये विवश हो गये। सदियों से बने सामाजिक और भाईचारे के बंधन छिन्न-भिन्न हो गए। इन्सान के मन में बैठा शैतान भयानक रूप में बाहिर आ गया और विनाशकारी लीला रचने लगा। मानवीय मूल्यों का ह्रास हुआ। बर्बर नरसंहार, बलात्कार, भुख, गरीबी और बेवसी का नंगा नाच होने लगा।

जम्मू-कश्मीर राज्य भी ऐसे विध्वंस से न बच सका। पाकिस्तान ने अक्टूबर 1947 में मुजफराबाद, पुंछ और मीरपुर आदि पर धावा बोल दिया। महाराजा साहिब की फौजों ने मुकाबला करने की काफी कोशिश की पर आक्रमण भयंकर था लड़ते लड़ते महाराजा का

जनरल राजिंदर सिंह मोर्चे पर ही वीरगति को प्राप्त हो गया । उस समय मीरपुर, मुजफराबाद आदि से निकलने का तरीका हिन्दुओं तथा सिक्खों ने ही मिलकर खोजा और श्रीनगर में पहुंचकर बागडोर शेख साहिब के हवाले कर दी । इस काफिले में एक छोटा बच्चा मैं ही था। मेरी आंखों के सामने अभी तक वह रोमांचक दृश्य उसी तरह स्पष्ट है कि किस तरह से नैशनल कान्फ्रैन्स के वालंटियर हर शरणार्थी से सामान और बच्चे उठाकर सुरक्षित स्थान पर पहुंचा रहे थे और वहां पर ही उनके खाने के लिए लंगर का प्रबन्ध आदि देख रहे थे ।

इतिहास का एक रोमांचक पृष्ठ । दो राष्ट्रवादी विचारधारा के कारण भारत के दो टुकड़े हो गए पर कश्मीरी नेता जनाब शेख साहिब के भावुक नेतृत्व ने भिन्न राष्ट्र विचारधारा को ठुकरा दिया । जब पूरा भारत साम्प्रदायिकता की आग में झुलस रहा था उस समय कश्मीर में इतिहास का एक नया पृष्ठ लिखा जा रहा था । जब सारे भारतीय नेता गांधी, नेहरू, अब्दुल कलाम आजाद हार चुके थे तो शेख साहिब और समग्र कश्मीरी जनता ने कश्मीर में अपने भाईचारे और प्रेम की परम्परा को कायम रखा । इस तरह इन्होंने अपनी महान कश्मीरी परंपरा और हजरत नुंद ऋषि और ललद्यद का प्रमाण प्रस्तुत किया । शेख साहिब ने समूचे उप महाद्वीप की घृणा से ऊपर उठकर लाखों लोगों को जीवन दान दिया और उनकी सेवा की ।

यह शेख साहिब की एक ऐतिहासिक भूमिका थी जिसने उनको संकीर्ण-विचारधारा से ऊपर उठा कर एक महान नेता के सिंहासन पर आसीन कर दिया । और तब गांधी जी ने कहा था कि "मुझे काश्मीर में रोशनी की एक किरण नज़र आती है ।"

आज भारत की आज़ादी की पचासवीं वर्षगांठ पर मैं इस महान नेता को भावुक श्रद्धांजलि देते हुए गर्व महसूस करता हूं कि आज जो भी हमारे पास है वह सब इस शेख साहब जैसे अप्रतिमा नेता की देन है ।

आज अगर हम सोचें तो महसूस होता है कि भारत की स्वतन्त्रता की लड़ाई लोगों में जागृति पैदा करके और उनमें ऊंचे मूल्यों को जगाकर ही लड़ी गई । विभाजन चाहे किसी भी क्षेत्र में किसी भी मूल्य को लेकर हो राष्ट्र के लिए घातक होता है हजारों पीरों फकीरों तथा संतों महंतों की युगों की कोशिश के बावजूद भी खत्म नहीं हो सके नित नया खड़ा होने वाले वितण्डावाद, घिनौने तंत्र ने आज समूचे राष्ट्र को नरक की भट्ठी में झोंक दिया है ।

भारत की महानता को बनाए रखने के लिए हमें सही दिशायें खोजनी चाहियें । टॉयनबी ने कहा है कि "इक्कीसवीं सदी भारत की सदी होगी", इसके लिए हमें समुचित और गहरी जीवन दृष्टि चाहियें । और चाहिये एक सीधा-सहज, अनुकूल, और निस्वार्थ नेतृत्व

सचाई और झूठ पहचान की करने वाली, और अपने हितों की रक्षा करने वाली जनता

स्वतंत्रता के प्रति स्वस्थ जीवन दृष्टि

एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था, जो न्याय और योग्यता पर आधारित हो।

यही शेरे-कश्मीर का सपना भी था जो साकार होना चाहता है। □

संस्मरण

महामना पं० मदनमोहन मालवीय और पंजाब

□ प्रस्तुति : सरोज शुक्ल

[चंद्रावली त्रिपाठी प्रसिद्ध स्वतत्रता सेनानी विचारक व चिंतक रहे हैं। इनका उपनिषद पर 2000 पृष्ठों का एक वृहदकाय ग्रंथ प्रकाशित है। स्वतंत्रता की पचासवीं वर्ष गांठ पर 'सरस्वती' के दिसंबर 1961 अंक में महामना मालवीय पर प्रकाशित उनका आलेख हम पुनः प्रकाशित कर रहे हैं। यह महत्वपूर्ण आलेख हमें सरोज कुमार शुक्ल के सौजन्य से प्राप्त हुआ है।]

—सं०

बस्ती (उत्तर प्रदेश) की एक महती सभा में 1926 में भाषण देते हुए पंजाब केसरी लाला लाजपत राय ने यह सर्वथा सत्य विचार प्रकट किया था कि महामना पंडित मदनमोहन मालवीय जैसे महान् पुरुष किसी देश में सैकड़ों वर्षों में ही उत्पन्न होते हैं। मालवीय जी का समस्त दीर्घ-जीवन त्याग, तपस्या, निर्हेतुक देशभक्ति और लोकसेवा का परमोच्चकोटि का उदाहरण है जिसकी तुलना बहुत कठिन है। भारतीय राष्ट्र के निर्माण में उनका जो योगदान है वह इतिहास के पन्नों में स्वर्णाक्षरों में अमिट रहेगा और यह देश उनका सदैव ऋणी रहेगा।

यों तो महामना मालवीय जी को सारा देश सदैव कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करेगा, किन्तु विशेषतया पंजाब उन्हें कभी नहीं भूल सकता। प्रथम महायुद्ध समाप्त हुआ था जिसमें धन और जन से भारत ने ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा की थी और हमारे नेताओं ने बड़ी आशा की थी कि कृतज्ञतास्वरुप ब्रिटिश सरकार भारत में उत्तरदायी शासन स्थापित करने के लिए कोई बड़ा कदम उठाएगी। भारत मंत्री मिस्टर मांटेग्यू का भारत भ्रमण भी हुआ जिसने इस आशा को बहुत कुछ बल प्रदान किया। परन्तु फलस्वरुप जो मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार योजना प्रकाशित हुई उसने इन आशाओं पर पानी फेर दिया। उदार दल के नेताओं ने इन सुधारों को कार्यान्वित करने का निश्चय किया। दिसम्बर 1918 में कांग्रेस के

अध्यक्षीय भाषण में मालवीय जी ने उन्हें "असंतोषजनक तथा "निराशापूर्ण" घोषित किया। एक ओर नये सुधारों के नाम पर सरकार भारतवासियों को सब्ज बाग दिखा रही थी और दूसरी ओर राष्ट्र-भावना के दमन के लिए कुचक्र भी रच रही थी जिसने प्रकारान्तर से स्वातंत्र्य युद्ध की पृष्ठभूमि तैयार की।

जनवरी 1919 में भारत सरकार ने रौलट कमेटी रिपोर्ट प्रकाशित की जिसका देश के कोने-कोने में घोर विरोध हुआ, किन्तु लोकमत की अवहेलना करके इस रिपोर्ट के अनुसार सरकार ने शीघ्रतापूर्वक भारतीय व्यवस्थापिका सभा में रौलट बिल जिसे देश ने एक स्वर से काला कानून कह कर धिक्कारा, एक उपचार की पूर्ति के लिए प्रस्तुत कर दिया। यों तो यह कानून सारे देश पर लागू था, किन्तु इसका प्रधान लक्ष्य पंजाब था। व्यवस्थापिका सभा में महामना मालवीय जी ने लगातार साढ़े-चार घंटे तक भाषण करके प्रस्तावित कानून के प्रत्येक अंश के अनौचित्य को खोल कर रख दिया। परन्तु सरकार तुली हुई थी और रौलट बिल कानून रुप में आ ही गया।

इसका परिणाम शीघ्र ही देश के सामने आया। 13 अप्रैल, 1919 को अमृतसर में जलियांवाला बाग का वह हत्याकांड हुआ जिसमें जनरल डायर की आज्ञा से सैकड़ों निरीह और निहत्थे बाल और वृद्ध, स्त्री और पुरुषों की निर्मम हत्या हुई और हिन्दू, सिक्ख और मुसलमानों के सम्मिलित रक्त ने उस नरपिशाच की हिंसावृत्ति को तृप्त करके सारे देश को एक छोर से दूसरे छोर तक हिला दिया और संतोष, क्षोभ और घृणा की भावनायें सर्वत्र व्याप्त हो गईं। सारे पंजाब में 'मार्शल लॉ' जारी किया गया कितने ही भद्र पुरुषों को बेंतों से पीटा गया और कितनों को कीड़ों की तरह पेट के बल रेंगना पड़ा। उस वीर-प्रसू भूमि के समस्त नेता जेलों में बंद कर दिये गये और पाशविक अत्याचारों की कोई सीमा न रह गयी।

देश भर में जलियांवाला बाग तथा नृशंस अत्याचारों की निष्पक्ष जांच के लिए एक स्वर से मांग हुई जिसकी प्रतिध्वनि इंगलैंड में भी हुई और अंत में एतदर्थ हंटर कमेटी की नियुक्ति हुई। किन्तु कांग्रेस के नेताओं को इस कमेटी की निष्पक्षता में विश्वास नहीं हुआ। देश में जहां कहीं जनता पीड़ित हो वहां पहुंचकर उसके दु:ख-दर्द दूर करने का मालवीय जी का मानों स्वधर्म था और वह पंजाव में पहुंच गये। दीनबन्धु ऐण्ड्रूज भी वहीं थे, और दोनों पृथक्-पृथक् रुप से महात्मा गांधी को वहां जाने के लिए बुला रहे थे। महात्मा जी के पंजाब प्रवेश पर निषेध था परन्तु वाइसराय से अनुमति मिलने पर वह संभवत: 17 अक्तूबर को लाहौर पहुंच गये।

उस समय गांधी जी के ही शब्दों में—'पंजाबी नेताओं के जेल में होने के कारण पंडित मालवीय जी, पंडित मोतीलाल जी और स्वर्गीय स्वामी श्रद्धानन्द जी ने मुख्य नेताओं का स्थान ग्रहण कर लिया था।' इन नेताओं और महात्मा जी ने एकमत होकर हंटर कमेटी के सामने गवाही न देने का निश्चय किया और जनता की ओर से, और कांग्रेस की ओर से, अलग जांच कमेटी नियुक्त करने का गंभीर निर्णय लिया। तदनुसार महामना मालवीय जी ने महात्मा गांधी, त्याग-मूर्ति पंडित मोतीलाल नेहरू, देशबन्धु चितरंजन दास, श्री अब्बास तैय्यब जी और बैरिस्टर एम० आर० जयकर की एक स्वतंत्र जांच कमेटी

नियुक्त की गई जिसके अध्यक्ष स्वयं गांधी जी थे। यह उल्लेखनीय है कि जैसा गांधी जी ने अपनी आत्मकथा में लिखा है—'ज्यों-ज्यों मैं लोगों पर हुए जुल्मों पर जुल्मों की जांच अधिकाधिक गहराई से करने लगा त्यों-त्यों अपने अनुमान से परे सरकारी अराजकता, हाकिमों की नादिरशाही और उनकी मनमानी-अंधाधुंध बातें सुन-सुन कर आश्चर्य और दु:खी हुआ करता।'

सितम्बर, 1919 में वाइसराय ने पंजाब के उपद्रवों की जांच करने के लिए हंटर कमेटी की नियुक्ति की घोषणा की थी और साथ ही 18 सितम्बर को अधिकारियों को दंडनीय बातों से दंड-मुक्त करने का इंडेम्निटी बिल भी व्यवस्थापिका सभा में पेश हो गया। रौलट बिल के विरोध में मालवीय जी का साढ़े चार घंटे का धाराप्रवाह भाषण असाधारण था ही, इस बिल के विरोध में उन्होंने अविच्छिन्नरूप से पांच घंटे भाषण दिया और मार्शल लॉ के अंतर्गत अमृतसर, लाहौर तथा अन्य अनेक स्थानों में जो असम्मानपूर्ण एवं क्रूर अत्याचार हुए थे उनकी विस्तृत और तीव्र आलोचना की जो व्यवस्थापिका सभाओं के स्वतंत्र विचार के सदस्यों के लिए सर्वदा पथ-प्रदर्शन करेगी।

जब यह घटनायें हो रही थीं, लेखक इलाहाबाद यूनिवर्सिटी का एक छात्र था। परन्तु वहां से एम.ए. की उपाधि प्राप्त करने के कुछ ही महीनों बाद उसे महामना मालवीय जी का वैयक्तिक मंत्री होकर उनके व्यक्तिगत और सार्वजनिक कार्यों को समीप से देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। असहयोग आन्दोलन के उपक्रम में स्थापित तिलक विद्यालय, गोरखपुर और वहीं से प्रकाशित साप्ताहिक 'स्वदेश' में कुछ दिनों से क्रमश: अध्यापन तथा सहकारी सम्पादन का कार्य कर रहा था। 2 फरवरी, 1922 को अपने श्वसुर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का तार पाकर कि 'मालवीय जी आपको बुला रहे हैं' उनकी सेवा में प्रयाग पहुँचा जहां वह काशी से बम्बई जाने के लिए जा चुके थे। उन दिनों लॉर्ड रीडिंग से मालवीय जी राष्ट्रीय आन्दोलन के विषय में मध्यस्थ के रूप में बातचीत कर रहे थे। उन्होंने भारत में औपनिवेशिक ढंग के स्वराज्य की स्थापना पर विचार करने के लिए एक गोलमेज कान्फरेंस करने पर उन्हें बहुत कुछ सहमत भी कर लिया था। परन्तु घटनाचक्र इस वेग से परिवर्तित होता गया कि शीघ्र ही वार्ता का अंत हो गया। मालवीय जी के बंबई प्रस्थान करने के पूव स्वर्गीय देवदास गांधी ने उनसे मिल कर सूचना दी कि महात्मा जी ने वाइसराय को पत्र लिख कर एक सप्ताह का समय दिया है जिसे सुनकर मालवीय जी ने सखेद कहा था कि पत्र लिखते समय वह उपस्थित होते उस तो पत्र की भाषा 'अल्टिमेटम' समझी जाय, ऐसा न होता। उन्हें विश्वास था कि उनके सुझाव को मानकर गांधी जी अपने पत्र को दूसरा रुप दे सकते थे।

इधर गोरखपुर में चौरीचौरा सब किया-कराया मिट्टी में मिलाने जा रहा था। 4 अथवा 5 फरवरी को मालवीय जी ने बम्बई के लिए प्रस्थान किया और दूसरे दिन नरसिंहपुर स्टेशन पर उतर कर हाथ में 'पायोनियर' पत्र लिये लेखक के डिब्बे के सामने क्षुब्ध दिखते हुए पूछने लगे, 'कुछ जानते हो?' मैं दंग रह गया और मैंने उत्तर दिया कि जब तक गोरखपुर में था इस दुर्घटना का कोई आभास नहीं था। महात्मा गांधी असहयोग आन्दोलन के आरम्भ से ही शान्ति और अहिंसा पर बराबर बल देते आ रहे थे परन्तु

इस उपदेश की जड़ जनता के हृदय पर जम नहीं पाई थी। चौरीचौरा के आसपास पुलिस ने बड़ा अंधेर मचा रखा था और कांग्रेस के दो वालंटियर भी मार डाले गये थे। 4 फरवरी, 1922 को जनता के एक बड़े जुलूस ने उत्तेजित होकर रेलवे स्टेशन के समीप अवस्थित पुलिस थाने में थानेदार और 21 सिपाहियों को बंद कर के आग लगा दी जिससे सब के सब जल मरे। सरकार बौखला गयी और लंदन भी डगमगा गया। इस दुर्घटना की प्रतिक्रिया मालवीय जी पर और सबसे बढ़ कर महात्मा गांधी पर हुई।

12 फरवरी को बारडोली में कांग्रेस कार्यसमिति की बैठक होने वाली थी क्योंकि वहीं से महात्मा जी अहिंसात्मक सत्याग्रह आरंभ करने वाले थे।

इस बीच बम्बई के बिरला भवन में जहां पूज्य मालवीय जी का आवास था, नित्य ही सुनने को मिलता कि बम्बई का गवर्नर गांधी जी को गिरफ्तार करने जा रहा है। बारडोली में कार्य-समिति के कुछ सदस्यों ने इस मत के विपरीत कि किसी देशव्यापी आन्दोलन में छुट-पुट हिंसा का हो जाना अनिवार्य है और एक चौरीचौरा के कारण आन्दोलन को स्थगित करना भूल होगी, गांधी जी ने, जिनके लिए अहिंसा आन्दोलन का प्राण तथा अनिवार्य अंग था, चौरीचौरा का दायित्व अपने कंधों पर लिया और सत्याग्रह को स्थगित कर दिया। मालवीय जी ने उनका पूरा समर्थन किया जिसकी उस समय बड़ी चर्चा थी कि गांधी जी मालवीय जी के कहने में आ गये, यद्यपि यह बात वे ही कह सकते थे जो गांधी जी के सत्य और अहिंसा व्रत से भली भांति परिचित न थे। 24-25 फरवरी को कांग्रेस महासमिति ने दिल्ली की बैठक में, जिसमें मालवीय जी उपस्थित थे, बारडोलीवाले प्रस्ताव को, जिसके द्वारा सत्याग्रह स्थगित हुआ था, स्वीकार किया और 13 मार्च को सरकार ने गांधी जी को गिरफ्तार कर लिया। यों तो सरकार का दमनचक्र पहले ही से चल रहा था जिसके फलस्वरुप उत्तर प्रदेश युक्त प्रदेश की प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के समस्त 55 सदस्य जिनमें पंडित जवाहर लाल भी थे, प्रयाग में एक साथ ही पकड़े जा चुके थे, परन्तु गांधी जी की गिरफ्तारी के बाद दमन ने बड़ा उग्र रूप धारण किया। समाचारपत्रों के कलेवर कार्यकर्ताओं की गिरफ्तारियों के समाचारों से रंगे होते। अनेक जेलों में देशभक्त बंदियों के दिल तोड़ने के लिए उन पर गर्हित पाशविक अत्याचार किये जाने लगे, तथा उच्च कोटि के प्रायः सभी नेता जेलों में बंद कर दिये गये। ऐसा लग रहा था कि सरकार राष्ट्रीय भावना को कुचल देगी। जनता त्रस्त थी और जो कार्यकर्ता बच रहे थे उनमें निराशा छा रही थी।

इस नैराश्य की अवस्था में अनेक प्रदेशों के लोगों की दृष्टि महामना मालवीय जी पर गई जो देश के सभी गाढ़े अवसरों पर काम आते थे। पंजाब, असम, कलकत्ता तथा दूसरे स्थानों से उनके पास निमंत्रणों के तांते लगने लगे। सबसे पहले उन्होंने पंजाब भ्रमण का निश्चय किया और दिल्ली से प्रयाग लौटने के दो-चार दिन बाद ही मार्च के अन्तिम दिनों में लाहौर के लिए चल पड़े। वह भारत सरकार की दमन नीति का एक नंगा चित्र ब्रिटिश जनता के सामने रखना चाहते थे, उनका विश्वास था कि जेलों के भीतर एवं बाहर कांग्रेस कार्यकर्ताओं पर सरकारी कर्मचारी जो पशुतापूर्ण अत्याचार कर रहे थे, उसका प्रामाणिक विवरण पाकर ब्रिटिश पार्लियामेंट भारत सरकार की दमन नीति को पलटने के

लिए उसे बाध्य करेगी। एतदर्थ वह स्मृति-पत्र तैयार कर रहे थे जिसके लिए पंजाब जाने के एक दिन पहले 'लीडर' के सम्पादक ने उस पत्र की एक बड़ी फाइल इस लेखक के द्वारा मंगवा ली और इस संग्रह का कार्य पंजाब के समस्त भ्रमण में जारी रखा।

महामना मालवीय जी के आगमन से सारे पंजाब में आशा और उत्साह की एक लहर दौड़ गई। लाहौर स्टेशन पर उनका शानदार स्वागत हुआ और लाला लाजपतराय की सर्वेन्ट्स ऑव पीपुल्स सोसाइटी का भवन उनका मुख्य कार्य-स्थल बनाया गया। उस समय स्वयं पंजाब केसरी लाहौर के सेन्ट्रल जेल में बंद थे जहां उनसे मालवीय जी ने शीघ्र भेंट की। लाहौर ही से समस्त पंजाब का मालवीय जी का तूफानी दौरा आरंभ हुआ जिसके प्रबन्धकर्ता पंजाब कांग्रेस के मंत्री डाक्टर परशुराम और अमृतसर के नेता सरदार मेहताबसिंह सर्वत्र उनके साथ रहे।

इस राजनीतिक यात्रा में मालवीय जी पंजाब के प्रायः सभी प्रमुख स्थानों और सुदूर पेशावर तक गये। उस समय उनकी अवस्था इकसठ-बासठ साल की थी पर उन्होंने विश्राम का नाम नहीं लिया? वस्तुतः उनके लिए आराम हराम था। एक ही धुन थी और यह लगन कि अनुत्साह की जगह उत्साह भरना, हताश आतमा को उठाना, देशभक्ति की भावना को जाग्रतरखना और नौकरशाही के अत्याचारोंका तथ्यपूर्ण ज्ञान प्राप्त करना है वह जहां कहीं जाते सार्वजनिक सभाओं में अपनी मधुर और आकर्षक वक्तृता से लोगों को कांग्रेस का मंतव्य समझाते और देशभक्ति के मार्ग पर दृढ़ रहने का उपदेश करते एवं कांग्रेस कार्यकर्ताओं की निजी बैठकों में उन्हें शान्तिपूर्वक कांग्रेस के कामों को करते रहने के लिए प्रेरित करते। लाहौर में जो मालवीय जी का केन्द्र स्थान था उन्होंने मोगा, कसूर, भिवानी, हिसार, जालन्धर, रावलपिंडी, लुधियाना, अमृतसर, सियालकोट, अम्बाला, खरर, रूपर, बटाला और पेशावर आदि नगरों के दौरे करके लोगों में एक स्फूर्ति पैदा कर दी। इस भ्रमण के मध्य में बटाला में प्रान्तीय राजनीतिक सम्मेलन हुआ, जिसके अध्यक्ष थे माननीय विट्ठलभाई पटेल, जिन्होंने व्यवस्थापिका सभा के अध्यक्ष-पद को सुशोभित करते हुए निर्भीकता और दक्षता का वह महान् आदर्श स्थापित किया जो किसी भी अध्यक्ष के लिए सर्वदा के लिए एक स्पृहणीय तथा अनुकरणीय उदाहरण रहेगा। इस सम्मेलन में भी मालवीय जी ने भाग लिया और लोगों को अपने भाषण से प्रभावित किया।

जालन्धर में रायजादा हंसराज भवन में मालवीय जी के ठहरने का प्रबन्ध था, रायजादा हंसराज उस समय जेल में थे। यहां यह देखने में आया कि पंजाब की महिलायें कितनी आगे बढ़ी हुई थीं। एक महती सभा हुई जिसके अध्यक्ष थे हुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द। महिलाओं की खासी बड़ी उपस्थिति थी जिसमें जालन्धर कन्या महाविद्यालय की छात्राओं का विशिष्ट स्थान था। जिस श्रद्धा और उत्साह के साथ उन्होंने मालवीय जी की आरती उतारी और देशभक्ति का प्रदर्शन किया वह स्पष्टतया प्रकट कर रहा था कि वे भारतीय संस्कृति की मर्यादा की रक्षा कर सकेंगी।

कई शहरों में महात्मा मालवीय जी के आगमन पर सार्वजनिक सभाओं पर भारतीय दण्ड विधान की धारा 144 के द्वारा निषेध लगा दिया गया था। अम्बाला स्टेशन पर गाड़ी से उतरते ही उनके हाथ में किसी उच्च पुलिस कर्मचारी ने उर्दू में नोटिस रखी जिसमें

उनके नाम के आगे मालवीय के स्थान में 'मौलवी' शब्द लिखा था जिस पर हंसी हुई। मालवीय जी चाहते तो इस आज्ञा को न मानते, परन्तु कानन तोड़ कर जेल जाने का उनका उद्देश्य उस समय न था और अम्बाला में किसी सार्वजनिक सभा का आयोजन नहीं हुआ। किन्तु पंजाब के नेता लाला दुनीचंद के स्थान पर प्रमुख कार्यकर्ताओं की एक खासी अच्छी बैठक में मालवीय जी ने राजनीतिक स्थिति तथा आवश्यक कार्यक्रम के विषय पर कई घंटे विचार-विमर्श करके जो करना था उसे पूरा कर लिया। अम्बाला से ही मालवीय जी रोपड़ और खरर भी गये जहां नौकरशाही ने बहुत अत्याचार किया था। अप्रैल समाप्त होते-होते मालवीय जी पेशावर पहुंचे जहां अम्बाला की तरह उनके सार्वजनिक भाषण पर दफा 144 की निशेधाज्ञा लागू की गई थी। पेशावर निकट आने पर रेल से आप सांप की चाल चलती हुई काबुल नदी को देख सकते हैं जिसका उल्लेख वेदों में आता है। यहां राधाकृष्ण संस्कृत पाठशाला में उनके ठहरने की व्यवस्था की गई थी और उसी में उन्होंने स्थानीय तथा बाहर से आये हुए कार्यकर्ताओं से स्थिति का परिचय प्राप्त किया और उनको तात्कालीन कर्त्तव्यों का निर्देशन किया। पेशावर छोड़ने के पहले मालवीय जी ने इस्लामिया कॉलेज का निरीक्षण भी किया।

राधाकृष्ण पाठशाला में शुचि-व्रत मालवीय जी के व्यक्तिगत शुद्धता-सम्बन्धी जीवन की दृढ़ता को देखने का एक विशेष अवसर मिला। यों तो वह साधारणत: बड़े प्रात: साधारण तौर पर स्नान कर के संध्या-वंदन करते ही थे। बाद में जल से स्नान करने के पूर्व सारे शरीर में देर तक चमेली के तेल की मालिश करते थे इससे उनका शारीरिक व्यायाम हो जाता था। पेशावर में चमेली की बोतल रिक्त देख कर रसोइये से नई बोतल मंगवा ली। उनकी दृष्टि खाली बोतल पर पहले पड़ चुकी होगी, नई बोतल मंगवाने की बात सुन कर उसे तेल सहित उन्होंने अपने सामने फेंकवा दिया क्योंकि संभवत: उस बोतल में कभी शराब रखी गई हो। यह था उनका मद्य-विषयक विचार और अखाद्य और अपेय वस्तुओं परित्याग से शुद्धता का रक्षण।

अप्रैल-मई में पंजाब की भीषण गर्मी और उसमें लगभग दो महीने का निरन्तर भ्रमण। इसके कारण पूज्य मालवीय जी का शरीर अत्यन्त शिथिल हो गया और मरी शैल पर कुछ दिन विश्राम कर लेना अत्यावश्यक हो गया। अतएव पेशावर से वह 4 मई को मरी के शीतल स्फूर्तिदायक शिखर पर जा पहुंचे। पेशावर से इधर कुछ ही दूरी पर तक्षशिला के ध्वंसावशेष देख लेना उन्हें आवश्यक प्रतीत हुआ—वह तक्षशिला जहां के विश्वविद्यालय में प्राचीन काल में चाणक्य कौटिल्य ने विद्याध्यन किया था। यद्यपि मरी में मालवीय जी का काशी हिन्दू विश्वविद्यालय और कांग्रेस-सम्बन्धी पत्र-व्यवहार जारी था और दीवान चमन लाल तथा अन्य उनसे मिलने आया करते थे, तथापि उन्हें टहलने और विश्राम करने के लिए पर्याप्त समय मिल गया और दस ही दिनों में उनके शरीर में यथेष्ट स्फूर्ति आ गई।

सिक्ख गुरूओं की भक्ति

महामना मालवीय जी की जिह्वा पर मानों सरस्वती का वास था। जिसने उन्हें वह माधुर्यपूर्ण ओजस्विनी वाग्मिता दी थी कि सभाओं में धाराप्रवाह बोलते हुए जब चाहते

श्रोताओं को हंसा अथवा रुला सकते थे। ऐसा एक भाषण उन्हेंने मरी के सिक्ख गुरुद्वारे में दिया और देश की गिरी दशा का वर्णन कर जब सिक्ख गुरुओं के नाम ले-लेकर उनका आह्वान करते हुए उनसे देशोत्थान के लिए श्रोताओं को प्रेरणा देने की मांग की तो स्वयं उनकी आंखों में अश्रु बह चले और उस बड़ी सभा में कदाचित् ही कोई ऐसा रहा जिसने आंसू न बहाये हों। उस समय 'सिर जाये तो जाय प्रभु मेरो धरम न जाय' तथा गुरुओं के इस प्रकार के दूसरे वचन सुनाते-समझाते वह किसी सिक्ख धर्मोपदेशक के प्रतीक से लग रहे थे। यही कारण है कि उनके प्रति सिक्खों की श्रद्धा असीम थी।

15 मई को मालवीय जी मरी से रावलपिंडी आये जहां सांयकाल एक विशाल सभा में उनका लम्बा भाषण हुआ जो, जहां तक स्मरण है, इस भ्रमण में उनका अन्तिम सार्वजनिक भाषण था। इस यात्रा के सम्बन्ध में यह बात उल्लेखनीय है कि मार्ग के सभी स्टेशनों पर पूज्य पंडित जी के दर्शनार्थ लोगों की भीड़ लग जाती थी और उनके प्रति पंजाबियों की अटूट श्रद्धा का आभास मिलता था। मार्शल लॉ एवं जलियांवाला बाग के नरसंहार से संतप्त पंजाबवासियों की मालवीय जी ने जो अमूल्य सेवायें की थीं उनसे उन्होंने उनके हृदय जीत लिये थे।

सिक्खों का उत्साह सर्वोपरि लक्षित होता था और उनके सत्श्री अकाल के आकाशव्यापी नारे उनके अदम्य उत्साह की अभिव्यक्ति करते-से लगते थे।

लोकमान्य की सराहना

पंजाब का आवश्यक काम समाप्त हो चुका था। असम की यात्रा करने की तीव्रता थी और युक्त प्रदेश कांग्रेस कमेटी तथा प्रांतीय खिलाफत कमेटी की बैठक आनन्द भवन में 20 या 21 मई को होने जा रही थी। उनमें सम्मिलित होने के लिए मालवीय जी ने, 18 मई को लाहौर से प्रस्थान किया। उन की विदाई में भाई परमानन्द की अध्यक्षता में सर्वेन्ट्स आव पीपुल्स सोसायटी के शिक्षणार्थियों ने एक साधारण जलपान का आयोजन किया था। जिसमें एक सामान्य पर महत्वपूर्ण बात हुई जिसका उल्लेख मालवीय जी के महान् हृदय का परिचय देने के लिए आवश्यक है। आयोजन एक पारिवारिक गोष्ठी के रुप में था जिसमें राजनीति पर वार्तालाप के बीच ब्रिटिश कूटनीति की चर्चा चल पड़ी। महामना मालवीय जी ने इस प्रसंग में यह कह कर कि अंगरेज़ों की चाल को जैसा लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने परख पाया था वैसा स्वयं उन्होंने अथवा गांधी जी ने पहले नहीं समझा था, तिलक जी की विलक्षण बुद्धि की सराहना की।

(सरस्वती, दिसम्बर 1961)

आंखिन देखी : एक

1 अगस्त 1947 जब गांधी जी कश्मीर आए थे

□ अर्जुनदेव मजबूर

पचास वर्ष पीछे मुड़ता हूं तो याद करता हूं जब 'कश्मीर में रोशनी की किरण' देखने वाले महासंत राष्ट्रपिता महात्मा गांधी कश्मीर आये थे ।

श्रीनगर में उनके पधारने का वह दिन 1 अगस्त 1947 का दिन था । इससे पूर्व महाराजा प्रताप सिंह ने उन्हें 1919 ई० में कुम्भ मेले के सुअवसर पर, कश्मीर आने का निमन्त्रण दिया था । कश्मीरी नेता शेख मुहम्मद अब्दुल्ला के कहने पर गांधी जी इबटाबाद तक आये । किसी कारण विशेषवश वे इबटाबाद से ही वापिस चले गये ।

1 अगस्त 1947 को मैं श्रीनगर में था। तब मैंने स्वर्गीय प्रेमनाथ बजाज़ के दैनिक उर्दू पत्र "हमदर्द" की नौकरी अस्वस्थ रहने के कारण छोड़ दी थी । 1 अगस्त को श्रीनगर में खूब चहल-पहल थी । इस दिन शाम को गिलगित पर बरतानवी सत्ता की समाप्ति के उपलक्ष्य में प्रशासन की ओर से दीपमाला का प्रबन्ध था। गांधी जी के ठहरने का प्रबन्ध बागात-बरज़ुंला में सेठ किशोरी लाल के घर पर था । गांधी जी को देखने के लिये श्रीनगर तथा अन्य कस्बों और दूर देहात से लोग हजारों की संख्या में आये हुए थे । जब गांधी जी श्रीनगर पहुंचे तो उनके पीछे मोटर वाहनों का एक लम्बा काफिला था । यह काफिला नुमाइश-गाह के रास्ते बज़ुंला पहुंचा । स्थान-स्थान पर आज़ादी के इस महान् नेता का स्वागत हुआ ।

कारों का काफिला रुका । सेठ किशोरी लाल के बंगले के बड़े आंगन में गांधी जी कार से उतरे । उनका भव्य स्वागत किया गया । वे घर के अन्दर गये । बाहर भारी भीड़ गांधी जी के दर्शनों के लिये जमा हुई थी । "गांधी जी जिंदाबाद" के नारे लग रहे थे ।

सेठ के मकान की दूसरी मंज़िल में एक बड़ा बरामदा था यहां विभिन्न कार्यकर्ता बैठे थे। गांधी जी वहां पर आये और 'आज़ाद हिन्दुस्तान ज़िन्दाबाद' तथा 'गांधी ज़िंदाबाद' के गगन-भेदी नारों के बीच उन्होंने लोगों के सामने हाथ जोड़े।

उन्होंने आधी-धोती पहन रखी थी। शरीर पर अन्य कोई वस्त्र न था, हाथ में एक लाठी थी और वे चश्मा पहने हुए थे।

'आतिश-ए-चिनार' के अनुसार कुछ घण्टे बाद महारानी तारा देवी गांधी जी के पास आईं। वे कार से उतर कर नंगे पांव गांधी जी के पास गईं। उनके हाथ में सोने की तशतरी में झाग से भरा दूध का प्याला था। उन्होंने गांधी जी को नमन करके तशतरी बढ़ा दी। गांधी जी के पूछने पर रानी ने कहा कि जब कोई महा ऋषि यहां आये तो हम उसे दूध पेश करते हैं। गांधी जी ने उत्तर दिया कि जिस राजा की प्रजा दुखी हो उसका दूध वे नहीं पीते।

गांधी जी सेठ किशोरी लाल के घर पर जनता के कई बड़े-बड़े दलों से मिले। उन्होंने कोई विशेष भाषण न देकर कई प्रार्थना सभाओं में भाग लिया। वे श्रीनगर और घाटी में इधर-उधर घूमे। उन्होंने उस समय के कश्मीर के प्रधानमन्त्री रामचन्द्र काक से मुलाकात की। कहा जाता है कि पं० काक कश्मीर के भारत में विलय के हक में थे किन्तु महाराजा हरिसिंह ने "ज्यों का त्यों' मुआहिदा किया था अतः वे चुप थे। महाराजा हरिसिंह ने गांधी जी को शाही महल में भोज पर बुलाया। गांधी जी वहां गये। उन का भव्य स्वागत किया गया। महारानी ने उनकी आरती उतारी और चरण छुए। गांधी जी ने राजमहल में कुछ खाने-पीने से इन्कार कर दिया।

शेख साहिब के कथनानुसार महात्मा गांधी नगर की घनी आबादी वाले मुहल्लों से गुज़र कर शेख के घर सऊरा गये। जहां बेगम शेख अब्दुल्ला ने उनका स्वागत सत्कार किया। इन दिनों शेख साहब जेल में थे। बेगम साहिबा गांधी जी की प्रार्थना सभाओं में सम्मिलित हुईं और वहां उन्होंने तिलावत-ए-कलामे पाक भी की।

गांधी जी दो दिन कश्मीर में रहे और तीन अगस्त '47 को बानिहाल-कार्ट-रोड के मार्ग से जम्मू पहुंचे। वे यहां लोगों से मिले और एक प्रार्थना सभा भी की। अन्त में महाराजा हरिसिंह ने शेख साहब को 29 सितम्बर 1947 को रिहा कर दिया। तीन अक्तूबर को हज़ूरी बाग में एक विराट सभा हुई। मैं स्वयं इस सभा में सम्मिलित था। इसी हज़ूरी बाग में मैंने पं० जवाहर लाल नेहरू, सरहदी गांधी अब्दुल गफार खान तथा बलोच गांधी अब्दुल समद खान और शेख साहब के भाषण सुने हैं।

महात्मा गांधी उन्नीसवीं शताब्दी के महान भारतीय हैं। वे हिन्दुस्तान का विभाजन नहीं चाहते थे। इस विभाजन से देश को बचाने के लिये वे मिस्टर अली मुहम्मद जिन्नाह को अविभाजित हिन्दुस्तान का प्रधानमन्त्री तक बनाने को तैयार थे। बाद में विदेशी सरकार ने विभाजन जैसा त्रासद निर्णय करवा डाला।

गांधी एक सरल, सादा और महान व्यक्ति थे। उनका जीवन जेलों और आश्रमों में बीता। वे एक सिद्धहस्त लेखक थे। उन्होंने एक जेल में 125 विश्वविख्यात पुस्तकें पढ़ीं।

वे साबरमती, मगन बाड़ी (वर्धा के पास), सीगांव (सेवा ग्राम) में रहे। इन आश्रमों में उन के साथ राजनैतिक कार्यकर्ता, और उन से मिलने वाले विश्वविख्यात पत्रकार और लेखक भी रहते। आश्रमों में कोई ग्लैमर या शानशौकत नहीं होती थी। इन आश्रमों में रहने वालों को एक साधारण भारतीय देहाती का सा जीवन व्यतीत करना पड़ता था। नल नहीं थे, पीने के लिये उपलब्ध पानी को उबाल कर दिया जाता था। बैठने को चटाइयां और सोने को चारपाइयां हुआ करती थीं। गांधी जी एक चौकी पर बैठते और अपना हर काम स्वयं करते थे। उनका भोजन चने और बकरी का दूध हुआ करता। आश्रमों के कमरों में कोई बिजली पंखे आदि नहीं थे।

जब सुप्रसिद्ध लेखक और पत्रकार लूई फिशर (Louis Fischer) गांधी जी की जीवनी (The Life of GANDHI लिखने भारत आए तो वे सप्ताह भर गांधी जी के साथ रहे। उन्हें भी इन दिनों वही खाना दिया गया जो अन्य आश्रमवासियों को दिया जाता था। लूई फिशर गांधी के व्यक्तित्व को देखकर हैरान हुए। गांधी में जो सब से बड़ी बलवत्ता थी वह थी अहिंसा की। 1908 में गांधी जी ने सत्याग्रह शब्द को चरित्रान्वित किया। दक्षिणी अफ्रीका में सफेद फाम (रंग) अंग्रेज़ों द्वारा ट्रेन से उतारे जाने और दक्षिणी अफ्रीका में भारतीयों की दयनीय दशा देखकर उन्होंने वकालत छोड़कर सत्य पर डट जाने का प्रण लिया। सत्य और अहिंसा ही दो ऐसे हथियार थे जिनके सामने अंग्रेज़ों को हार माननी पड़ी। गांधी पराई पीड़ जानते थे इसी लिए उनके इस गीत को भारी लोक प्रियता मिली—

वैष्णव जन ते तेणे कहिए
जो पीड़ पराई जाणे रे॥

भारत में वैष्णव मत का प्रचार कश्मीर से कन्या कुमारी तक रहा है। गांधी की महानता इस बात में है कि उसने एक महान वैष्णव जन का चरित्र धारण कर देश की दरिद्र, अशिक्षित और पीड़ित जनता में जागृति के प्राण डाले।

जिन दिनों गांधी कश्मीर आए उन दिनों ही नहीं अपितु बाद में भी आज तक गांधी के व्यक्तित्व का प्रभाव मोजूद रहा। उन्होंने कश्मीर में कहा—"मुझे यहां रोशनी की किरण दिखाई दी है" यह प्रकाश की किरण कौन-सी थी। कश्मीर एक ऐसी धरती है जो कई विचारधाराओं, दर्शनों, धर्मों और संस्कृतियों की घरिया (Crucible) रही है। यहां के ऋषियों ने सहनशीलता का विश्व-व्यापी सन्देश दिया है। लल्लेश्वरी और नुन्द ऋषि (शेख नूरुद्दीन) ने त्याग, तपस्या और अहिंसा का सन्देश घर-घर में पहुंचाया। लल्लेश्वरी ने कहा था—

सबूर छुई ज्युर, मर्च, त् नूनइ
ख्यन् छुइ स्योठ त् ख्ययस कुस
सबूर हा मालि छुइ सो'न सुन्द दूर्‌य
म्वलह छुय थो'द त् ह्ययस कुस

अर्थात् सहनशीलता जीरा, काली मरच और लवण के समान है। खाने में कड़ुआ है,

खाएगा कौन ? शांति स्वर्ण कर्णाभूषण के समान है। इस का मूल्य ऊंचा है अतः इसे खरीदेगा कौन ।

और—नुन्द ऋषि (शेखु-उल-आलम) कह गए—

स्वन रो'फ त्रा'विथ सरतलि रच़वुम
करतल फुटरिथ गॅरिमस द्रा'ति ।।

अर्थात् स्वर्ण और चांदी को छोड़कर पीतल से प्रीत रखी तलवार को तोड़ा और इस की दरांतियां बनाईं ।

इन दोनों ने घर का त्याग किया था और सत्य, अहिंसा तथा प्रकाश की प्राप्ति के लिए सारा जीवन व्यतीत किया। ऋषियों, फकीरों और विचारकों की इस महान् भूमि में गांधी जी को सत्य और अहिंसा की ही रोशनी मिली थी। कश्मीर में शताब्दियों तक बौद्ध धर्म, वैष्णब मत और सूफी मत का भरपूर प्रचार हुआ। इससे जीवन के महान् मूल्यों के प्रति आस्था को ही मुख्य आदर्श माना गया। इसी धरती से उत्पन्न जन भावना जब गांधी जी ने देखी तो उन्होंने कश्मीर के उसी प्राचीन प्रकाश का द्योतन किया।

पचास वर्षों में वितस्ता के जले अनजले, पुलों के नीचे से कितना पानी बहा होगा यह सब को इतिहास बताएगा। किन्तु गांधी ने इतिहास को बनाया। उनके सम्बन्ध में दुनिया के महान लेखकों, वैज्ञानिकों और विचारकों ने जो कुछ लिखा उसके सम्बन्ध में हमें युवा पीढ़ी को बताना होगा।

आज वैष्णव विचार धारा का प्रचार भारत से बाहर के देशों में हो रहा है। नोकसविल (Knoxville) में पक्के वैष्णवों ने मांस भक्षण से आज़ादी का दिवस धूमधाम से मनाया। गांधी हर प्रकार के शोषण के विरुद्ध थे। सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक और आर्थिक शोषण के विरुद्ध उन्होंने हमें संघर्ष करने का एक नया दर्शन दिया। इस दर्शन में कश्मीर की संस्कृति के अंश साफ नज़र आते हैं।

अल्बर्ट आइंस्टीन (Albert Einstein) ने गांधी जी के सम्बन्ध में लिखा—

"A man who has confronted the brutality of Europe with the diginity of a simple human being and thus at all times risen superior......A victorious fighter, who has always corned the use of force, a man of wisdom and humility, armed with resolve and inflexbie consistency."

अर्थात्—'एक ऐसा व्यक्ति जिसने यूरोप की निर्दयता का मुकाबला एक साधारण मानव प्रतिष्ठा से किया और सर्वदा अग्रिम रहा......एक विजयी योद्धा जिसने सदा ही बल-प्रयोग का तिरस्कार किया। एक प्रबुद्ध मानव, विनम्र, जो पक्के इरादे और दृढ़ स्थिरता से कटिबद्ध था।"

यही प्रख्यात वैज्ञानिक आगे चल कर कहता है कि—"आने वाली पीढ़ियां मुश्किल से इस बात पर विश्वास करेंगी कि एक ऐसा व्यक्ति इस धरती पर उत्पन्न हुआ है।"

विख्यात भारतीय दार्शनिक और विद्वान डा० राधा कृष्णन ने कहा कि—

"गांधी का विश्वास था कि विश्व मूलत: एक है। उसे विदित था कि ऐतिहासिक मानवता का उद्देश्य एक विश्व-संस्कृति, एक जग-सभ्यता, एक विश्व-जाति को पुष्ट और प्रवर्धित करना है।"

गांधी के सम्बन्ध में विन्सेंट शीन पत्रकार पेरिस ट्रिब्यून, राबर्ट ट्राम्बेल (Robert Trumbel) न्यूयार्क टाइम्ज्ञ रिपोर्टर, जान हेनेस होम्ज़ रोम्यां रोलां नोबल प्राइज विजेता, बी० शिवा राव, वियतनाम के नेता हो० ची० मिन आदि कितने ही लोगों ने लिखा है। किन्तु लगता है कि हम गांधी को भूलते जा रहे हैं। उसके आदर्शों को भुलाया जा रहा है। गलत राजनीतिज्ञों ने उनके दर्शन को निजी स्वार्थ की आड़ में अज्ञात बना रहने दिया।

स्वतन्त्रता के इस पचासवें वर्ष में देखें गांधी को जानने, उनका सन्देश जन-जन तक पहुंचाने का कितना प्रयास किया जाएगा।

मुझे गर्व है कि कश्मीर में रोशनी की किरण देखने वाले इस महासंत को मैंने भी देखा है। □

> अहिंसा और शांति का ज्ञान पुस्तकों से नहीं मिलता। इसके लिये सुदृढ़ मन, कष्ट सहने को क्षमता और श्रद्धा अपेक्षित है।
>
> —महात्मा गांधी

आंखिन देखी : दो

जब उम्मीदों का सूरज रेलगाड़ी के पहियों में आ गया था

□ जसवन्त सिंह रीण

अनु. रतन कलसी

जिस मिट्टी में खुशियों भरा चिंताओं, फिक्रों से बेपरवाह समय व्यतीत हुआ हो, वह जीवन कभी न भूलने योग्य याद बन कर रह जाता है। जहां चहकता किलकारी भरा बचपन खेला हो। मस्त जीवन जिया हो लाख विसंगतियों और पीड़ाओं के बावजूद वहां की आंखिन देखी भीतर एक विचित्र आहलाद और रोमांच जगाती है जब देश का विभाजन हुआ था। दो अगस्त 1947 का रावलपिंडी पाकिस्तान और वहां का शहर 'कोहमरी' और प्रमुख बाज़ार। यह शहर 'कोह मरी' जिला हज़ारा की रमणीक पहाड़ियों की गोद में बसा हुआ है। पिछली ओर से इस शहर को, पुन्छ, कश्मीर को जाने वाली सड़क लगती है और उसके रमणीक प्रमुख बाज़ार राजा बाज़ार, सदर बाज़ार, तोपखाना, रेसकोर्स आदि—कोहमरी के मुख्य आकर्षण हैं। दायीं ओर पेशावर तथा बायीं ओर लाहौर को जाने वाली सड़कें निकलती हैं। हमारा मकान मोहनपुरा मोहल्ले में था। मकान की निचली मंज़िल पर दो दुकानें थीं। एक सिख हलवाई की, जहां से हमें दूध, दही, लस्सी मिठाई आदि मिल जाती और दूसरी हिन्दू सब्जी वाले से सब्ज़ी आदि। मोहल्ले में ही छोटा-सा पार्क था जहां पढ़ाई के उपरांत हम अपने साथियों के संग खेला करते थे। हिन्दू-मुस्लिम सभी परस्पर प्यार और एकता का जीवन जी रहे थे। किन्तु समय बड़ा बलवान है किसे पता था कि द्वेष और घृणा की जहरीली हवाएं चलने वाली हैं जिससे सदियों से बना यह संगम तहस-नहस हो जाएगा। एक दिन शहरमें मुस्लिम लीग का जलसा था। काफी गिनती में मुसलमान एकत्रित हुए, भाषण हुए, नारे लगे। मुसलमानों और हिन्दुओं की ओर से परस्पर विरोधी नारे लगे। दोनों ओर से पथराव शुरू हुआ। पुलिस ने लाठीचार्ज किया, भगदड़ सी मच गई। लोग अपने-अपने घरों को चले गए। सारे शहर में कर्फ्यू लागू हो गया। लोग घरों-मोहल्लों में बन्द होकर रह गए। कल जो जिगरी दोस्त थे, आज वे एक दूसरे के शत्रु

हो गए। हमारे मोहल्ले 'मोहनपुरा' के साथ जुड़ा 'रत्ता ढक्क नगर' था, जो समूची मुसलमानों की आबादी थी। यहां लोग और अधिक गिनती में एकत्रित होना शुरू हो गये जो सारे शहर को लूटना तथा मारधाड़ करना चाहते थे। हमारे मोहल्ले में हथियारबन्द मोर्चाबन्दी कर ली गई। दिन-रात शिफ्टों में पहराबंदी हो गई। औरतों ने घरों में मोर्चे सम्भाल लिये। दोनों ओर से गोलाबारी शुरू हो गई। वातावरण में भय और आतंक छा गया। घरों में सब्जी दालें सब समाप्त हो गईं। मोहल्ले ने प्याज का खेत भी सब्ज़ी बनाकर खा लिया। कई दिन बीत गये। घर में बन्द मैं तंग पड़ गया, सोचा चलो अपने दोस्त ईनायत मसीह को ही मिल आता हूं। वह मेरा जिगरी दोस्त था। हम एक साथ 'रिसाला स्कूल' में पढ़ते थें। मैं अपने बड़े भाई स्वर्गवासी स० गुरबचनसिंह की छत्रछाया में था। वे मुझे बहुत प्यार करते थे। और पल भर आंखों से ओझल नहीं होने देते थे। एक दिन वे साथ वाली गली में किसी से मिलने गये हुए थे। मैं घर में ताला लगाकर चाबी पड़ोसी को देते हुए कहता गया कि मैं दोस्त के घर जा रहा हूं, सायं लौट आऊंगा। परन्तु क्या पता था कि इस घर को सदा के लिए छोड़े जा रहा हूं। हालात इतने भयानक थे कि घर से बाहर जाना मौत के मुंह में जाने के बराबर था। किन्तु हठ करके मैं घर से निकल ही गया। सड़कें वीरान थीं। तांगा, साइकिल सवार अथवा पैदल कुछ भी नहीं जा रहा था। यह गहमा-गहमी भीड़ भरा शहर उजाड़ सा दिख रहा था। डरता छिपता जब मैं 'लयी' के पुल (इसके नीचे शहर का गंदा पानी बहता था) पर पहुंचा तो एक आदमी हाथ में लम्बी-मोटी सोटी थामे मिल गया। उसने कहा, "ओए किथे चलेआ एं, जान नेईं प्यारी।" आतंक से सहम कर मैं बोला "जी घर नूं।" "फेर छेती दे के भज जा।" बस फिर क्या, डरते, छिपते, भागते हुए मैंने रेलवे पुल पर जाकर सांस ली। यह पुल शहर सदर को जोड़ता था जिस पर बैठे कई भिखारी तरह-तरह की भीख मांगने की गुहार लगाते थे, परन्तु इस समय सुनसान था। इसी पुल पर मैं खड़े होकर, नीचे से गुज़रती रेल-गाड़ियों के नज़ारे देखता था। पुल की सीढ़ियां उतरते हुए वह साधु भिखारी भी याद आया जिसने मुझ से एक पैसा लेकर कहा था, "खुदा तैनूं औकड़ां तकलीफां तो बचाई रखे।" निगहेबान रहे। सदर बाज़ार भी उजड़ा-उजड़ा सा दीख रहा था। रब्बा, कहां गये वे लोग, जिन से इस बाज़ार की सड़कें रौनकदार बनी रहती थी। दोस्त का घर रेलवे स्टेशन के पास ही था। वहां पहुंचा तो घर में ताला था। अब जाऊं तो किधर जाऊं। घर वापस लौटना खतरे से खाली नहीं था। रोशनी की एक नन्ही-सी किरण दिखाई दी। रेलवे स्टेशन पर खड़े कुछ लोगों को देख मैं उनकी ओर चल दिया। वे यह शहर छोड़कर हिन्दोस्तान जा रहे थे। वे बता रहे थे कि "पिंडी आधी उजड़ चुकी है। लोग काफलिया कैम्पों द्वारा धड़ाधड़ जानें बचा कर निकल रहे हैं। कुछ बन्दे जख्मी हुए। लोग एक दूसरे को बता रहे थे। मुझे अपने भविष्य का कोई पता नहीं था, कहां जा रहा हूं। जैसे कोई दरिया की मंझधार में कूद पड़े तो कोई पता नहीं कि उसे किस किनारे पर जाकर लगना है। तब मैं किशोर था। पेशावर से आने वाली गाड़ी रेलवे स्टेशन पर पहुंची। मेरे साथ खड़े सभी लोग गाड़ी में चढ़ गये। मैं सोचों में डूब गया, रेल-टिकट तो है नहीं। छः रुपये पांच आने मेरे पास थे, जो काफी देर से जोड़ कर रखे हुए थे, वही साथ लाया था। ईंजन ने सीटी दी। गार्ड ने हरी झंडी दिखाई। गाड़ी में बैठे एक सिख बुजुर्ग ने हाथ के

संकेत से मुझे अन्दर बुला लिया। मैं सोच रहा था कि यह सभी यात्री मेरे जैसे ही बिना टिकट हैं। चलो जो होना है, होकर रहेगा। भाई का विछोह भी सता रहा था जिन्हें बिना बताये मैं घर से निकल आया था। रेल-गाड़ी मस्ती में हिलोरें लेती पिंडी की सड़कें गलियां नापती अपनी मंज़िल की ओर बढ़ रही थी। वे स्थान जहां मैं हंसा, खेला, नाचा-कूदा था, एक-एक कर पीछे रह गये थे तथा अफसोस एवं दुख भरे मन में रह-रह कर हूक उठ रही थी। डिब्बे में बैठे लोग डरे-सहमे हुए थे। वे बता रहे थे कि हमारा रास्ता बड़ा भयानक तथा खतरनाक है। पता नहीं हम हिन्दोस्तान पहुंच भी पाएंगे या नहीं। परन्तु हमारे बचाव का एक ही साधन था, अगले डिब्बे में कुछ सिख फौजी। जिन्होंने हमें पूरा भरोसा दिलाया था कि जबतक वे जीवित हैं हमें कुछ नहीं होने देंगे। रात का घुप अन्धेरा, रेल-गाड़ी धड़कन की-सी संगीतमयी धुन में जा रही थी, तभी पहला स्टेशन—"माणिकआला" आ गया। प्लेटफार्म फसादियों-से भरा पड़ा था उनके हाथों में भाले, बर्छियां, लम्बी सोटियां तथा तलवारें थीं। ढोल बज रहे थे तथा नारे लग रहे थे—"नारा-ए-तकबीर . अल्ला हो अकबर . पाकिस्तान ज़िंदाबाद।" जब वे आक्रमणकारी हमारी ओर बढ़े तो अगले डिब्बे में से एक सिख फौजी सूबेदार स्टेनगन लिये नीचे उतर आया। उसने ललकार कर कहा, "देखो दोस्तो, हम देश के और आप इस जनता के रक्षक हो, हम शांतिपूर्वक अपनी नौकरी पर जा रहे हैं, सो मेरी आपसे विनती है कि आप ऐसी कोई हरकत न करें जिससे खून-खराबा हो जाए।" यह सुनते ही वे सब भागते हुए प्लेटफार्म से बाहर चले गये। हमारी सांस में सांस आई। गाड़ी फिर चल पड़ी। 'जेहलम' आया, गुजर गया, घबराहट और थकावट के कारण मेरी आंख लग गई। पौ फूटने पर तड़ातड़ गोलियां हमारे डिब्बे पर आ लगीं। आंख खुली तो देखा डिब्बे के सभी लोग सीटों पर लेटे सोये पड़े थे ताकि गोलीबारी से बच सकें। यह स्थान 'डेरा साहब' था जहां गुरु अर्जुन देव जी गर्म तवों पर विराजमान हुए थे। गाड़ी धीरे-धीरे लाहौर में से गुज़र रही थी। लाहौर स्टेशन नं० 1 पर गाड़ी रुकी, यहां इसका आखिरी पड़ाव था। हमारे साथ आये फौजी जिरोज़पुर चले गये तथा रेलवे अधिकारियों ने हम सभी यात्रियों को दूसरे प्लेटफार्म पर भेज दिया।

थोड़े से सामान के साथ हम लोग भूखे प्यासे, छिप कर बैठे हुए थे, केवल अपनी जानें बचाने की ही चिन्ता थी। एक पच्चीस-छब्बीस साल का सिख नौजवान ए० एस० आई० कोई पन्द्रह गज़ की दूरी पर पानी पीने गया तो दगइयों ने चाकुओं की मार से उसे वहीं चित्त कर दिया। कुछ बलोची फौजी छत पर चढ़ आए। उन्होंने हम पर ग्रेनेड फैंके, परन्तु भाग्यवश वे छत से टकरा कर पीछे गिर गए, जिससे उन्हीं के कुछ लोग जख्मी हो गये। स्टेशन पर बहुत सारे पाकिस्तानी फौजी उपस्थित थे, जिन्हें कमीश्नर ने भेज कर बलोचियों को बाहर खदेड़ दिया, और हम बच गये। मैं माल-गाड़ी के डिब्बे में ही बैठा रहा। स्टेशन के बाहर से हम पर गोलियां दागी जा रही थीं, जो सनसनाते हुए सिरों पर से गुज़र जातीं। सारा लाहौर शहर धुआं-धुआं था। बीच-बीच में गोलियां चलने का स्वर साफ सुनाई दे रहा था। शहर से कुछ लोग जान बचा कर स्टेशन पर पहुंचे जोकि काफी जख्मी हालत में थे। एक जख्मी की छिली गर्दन पर एक सिख ने अपनी पगड़ी फाड़ कर बांध दी। स्टेशन पर एकत्रित हुए हिन्दु-सिख आपस में दबे स्वर में यही बातें कर रहे थे कि लाहौर शहर सारा खाली हो गया है। भीषण सांप्रदायिक दंगा हुआ परन्तु अन्त में

उन्हें यह शहर खाली करना ही पड़ा। बड़े-बूढ़े बता रहे थे कि अमृतसर से आने वाली गाड़ी की प्रतीक्षा की जा रही है। यदि वह सही सलामत पहुंच गई तो हमें हिन्दुस्तान जाने दिया जाएगा। बस फिर क्या था, उस गाड़ी में आने वालों की सलामती के लिए हम सभी ने प्रार्थनाएं करनी आरम्भ कर दीं। थोड़ी देर में ही गाड़ी लाहौर पहुंच गई, जो छत पर सवार महिलाओं, बच्चों, पुरुषों से लदी हुई सही सलामत थी। यह देखकर हमने सुख की सांस ली। रेलवे अधिकारी बार-बार स्पीकर पर यही चेतावनी देते थे कि कोई भी व्यक्ति इधर-उधर न घूमे सब एक ही स्थान पर बैठे रहें। नीली सलवार कमीज वाले लोग हमारे पीछे लगे हुए थे। जो भी उनके हाथ पड़ता, उसे मार मिटाते। इतने भयानक दुख भरे समय में उसी स्रष्टा, पालनहार ने इतनी हिम्मत, निडरता बख्शी कि इस मार-काट को देखकर भी मैं अडोल बना रहा। जब हम सब अमृतसर जाने वाली गाड़ी में सवार हुए तो हम पर चारों ओर से आक्रमण हुए। डिब्बे में कई सवार सीटों के नीचे लेट गये। किन्तु कमिश्नर ने, जो वहां उपस्थित था, फौज भेज कर हमें बचा लिया। सारी रेल गाड़ी में केवल एक डिब्बे में हम बैठे थे, बाकी खाली थी। मुगलपुरा स्टेशन गुजर गया जहां मार-काट बहुत होती रही। हिन्द की सीमा अटारी पहुंचे तो जीने की आस बन्ध गई। किन्तु अपने भविष्य का अन्धेरा अभी भी आंखों के सामने था, कहां जा रहा हूं, कोई पता नहीं। गाड़ी में उमस तथा गर्मी से छुटकारा पाने के लिये जब खिड़की खोल कर बाहर की ओर देखा तो खेतों में दूर-दूर तक मरे हुए लोगों के शव बिछे पड़े थे। यह अभागे पाकिस्तान जा रहे थे। इस बंटवारे ने हजारों बेगुनाहों का जीवन लील लिया। हे वाहेगुरु, आपका यह कैसा निज़ाम है? जिसके अधीन युद्ध भी है और मृत्यु भी। **"दोश न दयो कर्ता, आपे मुगल चढ़ाया"**[1] इतना जुल्म, खूनखराबा तुझे क्यों अच्छा लगता है? आज नाम के भूखे देश भक्त केवल भगतसिह राजगुरु तथा सुखदेव के बुत्तों पर हार पहना कर सच्चे देश भक्तों की मोहर लगा लेते है। पर उन लाखों गुमनाम शहीदों के बलिदान का मोल कौन चुका सकेगा?

गाड़ी की गति के साथ मैं भी अपने भविष्य की कल्पना में चला जा रहा था कि रोशनी की एक किरण दिखाई दी **"डिट्ठे सब्भे थाओं नहीं तुधि जेहा।"**[2] (सभी स्थान देखे परन्तु तुझ जैसा कोई नहीं)। मन में विचार आया कि दरबार साहब अमृतसर जाकर गुरु घर की सेवा करके जीवन सफल करूंगा। अमृतसर रेलवे स्टेशन पहुंचा, कुछ राहत मिली। किन्तु फिर वही आवाजें थीं, कोई मुसाफिर नीचे न उतरे, बाहर कर्फ्यू लगा हुआ है। फायरिंग हो रही है, खिड़कियां बन्द रखें। गाड़ी ने आगे ब्यास जाकर रुकना है।"

अमृतसर रेलवे स्टेशन पर रेलवे लाईन एक मील दूर तक मानों समुद्र बना हुआ था। अमृतसर खाली हो चुका था, मुसलमान जा चुके थे। इतिहास के पन्नों पर कहीं भी ऐसा विनाश नहीं पढ़ा था जो अपनी आंखों से देखा। दरबार साहब जाने का विचार धरा का धरा रह गया। पता नहीं भाग्य किस ओर ले जा रहा था। ब्यास पहुच कर लगर खाया। जो गांव वालों ने श्रद्धा के साथ तैयार किया हुआ था। अम्बाला पहुंच कर गाड़ी रुक गई।

---

1. ग्रंथ साहिब से लिया गया शब्द। (भाई गुरदास)
2. —वही—

दिन ढल गया और अन्धेरा गहरा उठा। मानों सूरज रेल के पहियों में आ गया था। रात: प्लेटफार्म पर काटी। सुबह पूछते-पूछते शहर की ओर चल पड़ा। न कोई साथ-सम्बन्धी, न कोई रिश्तेदार। सब कुछ अजनबी तथा पराया पराया था। एक चौराहे पर पहुंचा तो लोगों की भीड़ थी। सब कह रहे थे आज 15 अगस्त है, आज़ादी का झंडा लहराया जा रहा है। नेता जी ने डोरी खींची, फूल गिरे, मानों उन लाखों शहीदों के परिवारों के आंसू गिर रहे हों तथा इस गज भर तिरंगे में देश की स्वतन्त्रता के लिए मर मिटे परवानों के प्राण लिपटे हुये हों। मैं इस त्रासदी का गवाह था। मैं आज़ाद था और जिंदा था। पल भर के लिये जैसे मेरी चेतना सुन्न पड़ गई थी। और मैं आज भी सोच रहा हूं कि आज़ादी की उस धड़धड़ाती रेल के पहियों के नीचे आखिर हमारी किन उम्मीदों का सूरज आ गया था? □

संकट में साहस न खोना ध्येय में दृढ़ निश्चयी होना है।

—बाल गंगाधर तिलक

संवाद : एक
स्वतन्त्रता का पचासवां सोपान

विकास जनता के बूते पर भी होता है : तरसेम गुजराल

(पंजाब के प्रतिष्ठित कलमकार तरसेम गुजराल से मनोज शर्मा की बातचीत)

गर्मियों के दिन हैं। मौसम अपनी प्रकृति के विपरीत तीन चार बरसातें दे चुका है। बहुत दिनों से परिचितों, मित्रों और पंजाब में अपने घर की याद आ रही है। और उसी पंजाब में हैं तरसेम गुजराल भी।

जालन्धर में जन्मे डा० तरसेम गुजराल के पिता पुरखों की धरती पुंछ (जम्मू कश्मीर) रही। विस्थापन से पूर्व वे कश्मीर की मिट्टी से सम्बद्ध रहे। यही कारण है कि उनकी बातों, उनके संस्कारों में केसर के खेतों की खुशबू-बोलती है। जिन्दगी के सख्त ज़ेर-ज़बर से दो चार होने वाले तरसेम गुजराल ने हिन्दी लेखन जगत को कई उल्लेखनीय आयाम दिये। स्वस्थ जीवन ऐसे वरिष्ठ, वरेण्य रचनाकार का मूलमंत्र है।

इधर हममें उनके इस वक्तव्य के उपरांत, आज़ादी की 50वीं वर्षगांठ की पृष्ठभूमि में उनसे कुछ प्रश्न सांझे किये।

—स्वतन्त्रता के पचास वर्ष पूरे कर लेने के बाद, आज के भारत के प्रति आपके क्या विचार हैं?

—कहने की बात नहीं कि मैं भारत से बहुत प्यार करता हूं और इसके मंगल की कामना करता हूं।

अपनी जमीन, अपने पानियों, अपनी वनस्पतियों और अपने आकाश से किस सवेदनशील प्राणी को प्रेम नहीं होगा। परन्तु अफसोस होता है अपने उन लोगों पर जिन्होंने देश को समता, न्याय और विकास की राह दिखानी थी, उन्होंने हमें एक भ्रष्ट समाज में धकेल दिया। एक ऐसी ज़ंग खुर्दा व्यवस्था दी जिसमें अपनी जमीन बेगानी लगने लगे, पानियों में ज़हर भर जाएं और आकाश धुआंधुआं सा रहे। विकास की यात्रा में हमें लंगड़ा विकास मिलता रहा। जब भी विकास की बात उठी, स्वार्थ जगा। फिर भी यह नहीं कह सकते कि विकास नहीं हुआ। विकास जनता के बूते भी

होता है। भारतीय जनजीवन में हिम्मत है, स्वप्न हैं और संघर्ष करने में अडिग विश्वास है। इसलिए उज्ज्वल भविष्य की कामना के आधार मुझे नजर आ रहे हैं।

—एक ओर भारत में दोहरी अर्थनीति लागू हैं, दूसरी ओर रोजगार रहित विकास की छद्मता है। इसी के साथ जहां 'भ्रष्टाचार बनाम संस्कृति' का स्वीकृत जयघोष है, वहीं हमें तकनीकी वर्चस्व की चौंध के साम्राज्यवादी षडयंत्र का भी शिकार बताया जा रहा है। ऐसे समय में साहित्य क्या-क्या सार्थक भूमिका निभा रहा है ?

—दोहरी अर्थनीति भारत में शायद आजादी के पहले दिन से ही रही। मिक्सड इकॉनमी दोहरी अर्थनीति ही थी। बेरोज़गारी बढ़ती चली जा रही है। गांव में भी, शहर में भी। शिक्षा अभी तक तोता रटंन है। अभी तक इतिहास साम्प्रदायिक लहजे में पढ़ा और पढ़ाया जाता है। वैसे भी मानविकी विषय सबसे पिछड़ता चला जा रहा है। विज्ञान और तकनीक का विकास जन-जन के लिए होता है। समूचे मानव मात्र के लिए। वैज्ञानिक का नया आविष्कार और एकाधिकार लाभ मात्र के लिए नहीं होता। एटम की तलाश का मूल उद्देश्य धरती की तहस-नहस नहीं था। तकनीक पर कब्जा पाने के बाद पूंजीपति आश्रितों को कमजोर निकम्मा, बुद्धिहीन और विवेक शून्य साबित करता रहता है। जनसामान्य इस तरह ज्यादा लाभान्वित होने की जगह दबाव में रहता है...आर्थिक विकास, नई नीतियां...मुझे तो कई बार ऐसा लगता है कि हम एक खतरे से बचने के लिए दूसरे खतरे से हाथ मिला रहे हैं। और यह शायद पहले से ज्यादा खतरनाक है। साहित्य की भूमिका सार्थक ही है। साहित्य मनुष्य को संवेदनशील बनाए रखने में कारगर भूमिका निभा रहा है। निभाता रहेगा। हमें आसपास के अंधेरे और दुर्गन्ध का तीखा एहसास साहित्य जिस तरह करवा देता है, वह कमाल है। साहित्य समय सजग है। परिवेश सजग है। वे चीजें, वे दर्द, जिन्हें हम रोजमर्रा में भूले रहते हैं, साहित्य उन्हें जगा देता है।

—अर्सा पूर्व प्रश्न उठा था कि हिन्दी साहित्य में मुस्लिम पात्रों को नकार किया जा रहा है। आप इससे सहमत हैं ?

—इसी प्रश्न को आपने 'वक्त बदलेगा' (संस्कृति/वक्त बदलेगा अंक) की अपनी टिप्पणी में भी उठाया था। मुझे नहीं लगता कि जानबूझ कर या किसी विशेष योजना के तहत ऐसा हो रहा है। मुसलमान पात्र भी दूसरे पात्रों की तरह भारतीय समाज और जीवन का अंग हैं। मध्यवर्गीय/निम्न मध्यवर्गीय लेखक के अपने कठघरों से बाहर निकलने जूझते समझने के अवसर बहुत नहीं हैं। ये पात्र होने चाहिएं।

—पिछले ही दिनों कवि-समीक्षक 'विजय कुमार' में कवि-संपादक 'कुमार अंबुज' का हुआ पत्राचार चर्चा में है ' इसमें एक प्रश्न उभरा है, जिसे कुछ इस तरह से भी कह सकते हैं कि आज की कविता, कवि की राजनैतिक पक्षधरता स्पष्ट नहीं करती, फैशन-परस्ती ही है। आपकी राय ?

—मैं विजय कुमार और कुमार अंबुज के बीच पत्राचार देख नहीं पाया..। लेकिन एक बात कहना चाहूंगा कि यदि कवि की राजनैतिक पक्षधरता स्पष्ट है तो वह कविता कितनी भी परोक्ष न हो जाए जाहिर हो ही जाएगी। पक्षधरता को जाहिर होना ही होता

है : कवि को कविता में कभी कहना नहीं पड़ता कि वह राजनैतिक पक्षधर है।... मुझे अभाव लग रहा है किसी लहर का, किसी मूवमैंट का। दूसरा पक्ष यह भी हो सकता है कि प्रगतिवादी खेमे की कविता को वाचाल और नारेबाजी के साथ खड़ी होने के लिये यशस्वी आलोचक ने एड़ी चोटी का जोर लगा दिया....अब कवि कला सजग होने की बात सामने रख रहा है।

—तरसेम जी ! आप हिन्दी की एक अनियतकालिक गंभीर-पत्रिका 'वक्त बदलेगा' का संपादन-दायित्व भी संभाल रहे हैं एवं विचारधारा मंच' जैसे सांस्कृतिक संगठन से भी संबद्ध हैं। क्या आपको लगता है जिस मौजूदा समय में देश की रगों में दौड़ रहे प्रत्येक तरह के अशोभन का मुकाबला इन दोनों मंचों से किया जा सकता है ?

—नहीं किया जा सकता....। 'वक्त बदलेगा' जैसी बहुत-सी पत्रिकाएं, 'विचारधारा मंच' जैसे बहुत से मंच चाहिएं....पत्रिकाएं और मंच हैं भी। उनकी अपनी भूमिका है। मकसद बात तक पहुंचने का है। उसे पहुंचाने के छोटे से प्रयास में लगे हैं हम लोग। मैंने कभी नहीं कहा कि मैंने कोई मार्का मार लिया है। एक कोशिश है सार्थक संवाद की। एक नागरिक कर्त्तव्य है चीजों को उनके सही रूप में देखने दिखलाने का...। एक साजिश के तहत चाही/फैलायी क्रूरता से बचने का।

—एक प्रश्न को सीधे-सीधे सुलझाने के उद्देश्य से आपके विचार जानने की अपेक्षा है कि आजादी की पचास मंजिलें तय कर लेने के बावजूद हम कला, संस्कृति एवं भाषा को लेकर, अपने ही बनाए हुए नीतिगत आधारों के प्रति संतुष्ट क्यों नहीं हैं ? कृपया यह भी स्पष्ट करें कि जो राजनैतिक मॉडेल आज हमारे सामने है वहां भगतसिंह विचारधारा हाशिए से उठकर केंद्र में नहीं आ जानी चाहिए ?

—कला, संस्कृति और भाषा के बारे में सजग रूप से सोचने का किसी के पास समय ही नहीं। आज यह केवल उद्घाटनों और पुरस्कारों तथा तस्वीरों तक सीमित है। जितना काम हुआ है वह जनूनी लोगों के बल पर ही हुआ है।

भगत सिंह विचारधारा की अपेक्षा नहीं की जा सकती। उनका चिंतन अपने भीतरी और बाहरी संघर्ष के एकीकरण का परिणाम है। संघर्ष के लिए खुद को तैयार करना है तो उनका एक-एक शब्द प्रेरणादायी बन जाता है। उनके जीवन, और विचारधारा पर मैं खुद कुछ लिखने की योजना बना रहा हूं।

(डॉ० तरसेम गुजराल जी के साथ यह साक्षात्कार भारी गर्मी और बिजली पंखे के बंद रहने के बीच हुआ। जैसे वह एक साथ लेखन व चिंतन के कई फ्रंट सम्भालते हैं और विपरीत परिस्थितियों में भी उदाहरण काम करते हैं वैसे ही घर के सम्पूर्ण घरेलू पन और सन्नी बेटे को साथ-साथ लेकर वह बातचीत के संघनता के संग-संग फैलते चले गए। उनका संदेश कि हर जगह एक अरचनात्मक माहौल ही हमारा सामना कर रहा होता है और यह ऊर्जा हम में होनी चाहिए कि किस तरह से रचनात्मक वातावरण सृजित कर सकें। उनकी इसी पक्ष धरता को मैं सलाम करता हूं।) □

संवाद : दो

राज्य के प्रख्यात भाषाविद् चिंतक एवं आलोचक

(पद्‌म श्री प्रो० रामनाथ शास्त्री से दीदार सिंह की बातचीत)

—शास्त्री जी, आज हम स्वतन्त्रता की स्वर्ण-जयन्ती मना रहे हैं, गत पचास वर्षों में देश ने कई राजनैतिक, आर्थिक तथा सामाजिक परिवर्तन देखे। आप ने स्वतन्त्रता से पहला दौर भी देखा, और उसके साक्षी भी रहे हैं। जनजीवन के अनेकों परिवर्तनों के साथ साथ आप चले हैं। जिन लोगों ने स्वतन्त्रता-संग्राम के विषय में बहुत कुछ पढ़ा तथा सुना है। सम्भवत: कुछ ऐसी बातों और स्वतन्त्रता संग्राम के कुछ गुमनाम सेनानियों की देश-सेवाओं के बारे में उन्होंने कुछ सुना-पढ़ा न हो। उसे उद्‌घाटित करते हुए यह बताइये कि स्वतन्त्रता से पूर्व जम्मू में इस संग्राम की क्या स्थिति थी?

—मैं आजीवन अव्यवसायी रहा हूं राजनीति से मेरा जुड़ाव कभी नहीं रहा। हां, मेरा जुड़ाव कला, संस्कृति से रहा है तथा लोक-जीवन में मुझे अवश्य गहरी रुचि रही है। इसलिए अपनी इन सीमाओं को ध्यान में रखते हुए ही मैं आपके प्रश्नों का निराकरण कर पाऊंगा।

आपकी पहली जिज्ञासा का मुख्य प्रश्न है कि "स्वतन्त्रता से पूर्व जम्मू में स्वतन्त्रता-संग्राम की स्थिति क्या थी?" विदेशी साम्राज्य का उपनिवेश होते हुए, भारतवर्ष प्रशासनिक दृष्टि से दो तरह के प्रदेशों में बंटा हुआ था। एक था बर्त्तानवी भारत और दूसरा था भारत। जिसकी लगभग छ: सौ रियासतें थीं जिनके प्रशासक थे वहां के सामन्त। ये सभी छोटे-बड़े सामन्त भी विदेशी साम्राज्य-तन्त्र के प्रति ही उत्तरदायी थे। हर बड़ी रियासत पर नज़र रखने के लिए एक अंग्रेज़ी रेज़ीडेंट और उसका कार्यालय होता था। ये रेज़ीडेंट, इस साम्राज्य के सर्वोच्च प्रशासक, वायसराय जनरल के प्रतिनिधि के रूप में काम करते थे। हमारी रियासत की देखभाल करने वाले रेज़ीडेंट का कार्यालय स्यालकोट में होता था जो अब पाकिस्तान में आ गया है।

सन् 1857 ई० में शुरू होने वाला सैनिक विद्रोह ही स्वतन्त्रता संग्राम की पहली रण-भेरी थी। बर्त्तानवी भारत में, विदेशी साम्राज्य से मुक्त होने के लिए, बलिदान देने के इस यज्ञ में, हजारों मनचलों ने अपने प्राणों की आहुतियां दीं। लेकिन भारतवर्ष की रियासतों के सामन्ती प्रशासकों ने विदेशी हाकमों के साथ मिलकर इस सैनिक-विद्रोह का विरोध किया। उन्होंने इस विद्रोह को दबाने के लिए, अपने सभी साधन, बर्त्तानवी सरकार को पेश कर दिए।

जम्मू-कश्मीर यूनीवर्सिटी के अंग्रेज़ी विभाग की पत्रिका, J. & K. University Review के जून 1966 ई० के अंक में, उर्दू के स्नातकोत्तर विभाग (श्रीनगर) के अध्यक्ष, प्रो० A.Q. कादरी का एक लेख छपा है—"Maharaja Ranbir Singh & his Oriental Translation Bureau".

इस लेख के शुरू में प्रो० क़ादरी लिखते हैं,

> "The year following his accession to the Gaddi was the most turbulent year in the history of India, but a peaceful period in the history of his state. Mah. Gulab Singh had advised Mah. Ranbir Singh to send an army to the help of the British.
>
> A copy of the letter written to Mah. Gulab Singh by the Chief Commissioner of the Panjab, dated 27th May 1857 expressing appreciation of the friendship of the Maharaja and his help to the British on previous occasions and appealing him to stand with the British in their hour of supreme need, is preserved in a rare Manuscript, forming a part of the collection of Dr. Karan Singh, the Governor of the J. & K. State.
>
> Consequently four batalleans together with an artillary under the command of Deewan Hari Chand and an amount of rupees ten lakh was sent to Delhi."

हमारा यह दुर्भाग्य था, कि रियासत में हमारे पुरखे, उस समय, उस सामन्ती व्यवस्था की, कमजोर, और अनपढ़ प्रजा मात्र थे। हमें आज अपने मन में लज्जा और ग्लानि का अनुभव होता है कि हमारे पुरखों में से उस समय कोई दोचार मन चले भी ऐसे नहीं निकले जो उस महायज्ञ में अपने प्राणों की आहुति देकर अपनी आने वाली सन्तानों को, इस नदामत से बचा लेते। जैसे उन्नीसवीं सदी के पहले चरण में पंजाब के महाराजा रणजीत सिंह की साम्राज्यवादी यलगारों से डोगरा प्रदेश को सुरक्षित रखने के लिए, डोगरा गुरीला सरदार, मियां डीडो और उसके बलिदानी साथियों ने पंजाब के उस सैनिक-तंत्र के विरुद्ध 16 वर्ष तक लगातार बलिदानी संघर्ष करके, हमारे इतिहास में एक ऐसा अध्याय जोड़ दिया है, जिस पर डोगरों की आने वाली पीढ़ियां हमेशा गर्व करती रहेंगी।

—तो क्या इसका मतलब यह हुआ कि डोगरा सामन्ती शासनकाल में, देश की स्वतन्त्रता के इस संघर्ष में हिस्सा लेने वाले कोई मनचले लोग सामने नहीं आये ?

—नहीं, ऐसी बात नहीं है। स्वतन्त्रता-संग्राम की आंच और उसकी चिंगारियां इस प्रदेश में भी प्रवेश कर चुकी थीं। जम्मू-प्रदेश के एक-मात्र पी. डबल्यू (P.W) कालेज के विद्यार्थी, बर्तानवी भारत में होने वाली घटनाओं के समाचार पढ़-सुन कर बेचैन होने लगे थे। "स्टेट-आर्काइव्स (State Archives) में संग्रहीत रियासती प्रशासन की तत्काल-सम्बन्धी एक फाइल में, 15-16 विद्यार्थियों को जम्मू के (P.W.) कालेज से एक-दम निष्कासित (Rusticate) कर देने सम्बन्धी, सरकारी आदेश को मैंने स्वयं देखा है। इन विद्यार्थियों का अपराध यह था कि वे सब, लाहौर में होने वाले एक सियासी जलसे में ला० लाजपतराय और पं० जवाहर लाल नेहरू जैसे नेताओं के भाषण सुनने वहां चले गए थे।

मैं जम्मू के ख्यातमामा हैडमास्टर स्वर्गीय लाला ईश्वर दास मेंगी 1886—1975ई०) की हाथ से लिखी उनकी एक डायरी पढ़ रहा था। एक जगह उन्होंने लिखा था : 'मैंने सन् 1907 ई० में जब B.A. पास किया तो मेरे छोटे भाई भगवान दास ने जम्मू के रणवीर हाई स्कूल से दसवीं की परीक्षा पास की। उन्हीं दिनों पंजाब प्रान्त से निकलने वाले एक देश प्रेमी समाचार-पत्र "पंजाबी" पर अंग्रेज़ी सरकार ने एक हज़ार रुपए का जुर्माना लगा दिया। जम्मू के लड़कों ने इस अखबार के लिए चन्दा इकट्ठा करना शुरू किया। भगवानदास (मेरा भाई) भी उन लड़कों में शामिल था। स्कूल के हैड मास्टर, परसराम भावड़ा की प्रेरणा, इन लड़कों के पीछे थी। महाराजा (प्रताप सिंह—1885-1925 ई०) तक इस बात की रिपोर्ट पहुंची तो महाराजा ने, रियासत से निष्कासित करने का हुकम जारी कर दिया। उनमें भगवानदास भी शामिल था।

श्री परसराम भावड़ा ने भगवान दास को लाहौर के डी०ए०वी० कालेज में दाखिला दिला दिया और एक साल तक उसे अपनी जेब से खर्च देता रहा। फिर मैं ट्रेनिंग करने के लिए लाहौर पहुंच गया तो उसको आगे का खर्च मैं देता रहा।"

क्या यह छोटी सी घटना, इस बात का प्रमाण नहीं है कि हमारी रियासत में भी देश-प्रेम के जुनून की हवाएं तेज़ हो रही थीं। सरकारी स्कूल का हैडमास्टर और उसके स्कूल के विद्यार्थी, दोनों के मन में देश-प्यार की भावना अंकुरित होने लगी थी।

स्वदेशी का प्रचार तथा विदेशी वस्त्रों की होली !

सन् 1930 ई० में जब महात्मा गान्धी को बर्तानवी सरकार ने गिरफ्तार कर लिया तो सारे भारतवर्ष के साथ, जम्मू में भी मुकम्मल हड़ताल की गई थी। स्वदेशी के प्रचार और विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार की एक जोर-दार लहर ने जम्मू को अपनी लपेट में ले लिया। इस शान्त आन्दोलन के केन्द्र पुरुष लाला हंसराज (शेरे-डुग्गर) थे। लाला हंस राज इस प्रदेश के पहले व्यक्ति थे जिन्होंने सिर्फ खद्दर पहनने का प्रण कर रखा था। उस दिन शहर में नागरिकों का एक बड़ा जुलूस निकाल कर, रघुनाथ बाजार चौक में तथा वर्तमान गीता-भवन के प्रवेश-द्वार के सामने सड़क पर बहुमूल्य विदेशी

वस्त्रों के ढेर लगा कर उनको जलाया गया था। इस जुलूस में, पी. डब्लयू कालेज जम्मू के अंग्रेज़ी पढ़ाने वाले प्रोफेसर बी०एन० सहाय भी शामिल थे। इस प्रदर्शन के नेता थे ला० हंसराज डोगरा।

इस प्रदर्शन से रियासती सरकार इतनी बौखला गई थी कि उसने लाला मुल्कराज सराफ (बाबाए-सहाफी) द्वारा सम्पादित उर्दू सप्ताहिक 'रणवीर' का प्रकाशन बन्द कर दिया और प्रो० बी० एन० सहाय को कालेज की नौकरी से निष्कासित कर दिया। जम्मू में स्वदेशी अपनाओ, चर्खे चलाओ के घोष से जम्मू प्रदेश के नर तथा नारी दोनों के लिए कर्त्तव्य-मार्ग प्रशस्त हो गए। सामाजिक काम-काज में लगे अनेकों लोगों ने खद्दर के वस्त्र पहनना शुरू कर दिया। जम्मू के देश-भक्त आत्म-ग्लानि की घुटन से आकुल होकर "स्वदेशी अपनाओ" आन्दोलन में भागीदार हो गए।

लेकिन देश के स्वतन्त्रता-संग्राम की चर्चा. शायद जम्मू के कामरेड धन्वन्तरी (1902—1953 ई० की बलिदानी जीवन-गाथा के बगैर बिल्कुल अधूरी रहेगी। ए०सी० बोस अपने एक अंग्रेजी लेख **Remembering Dhanwantri** मे लिखते हैं :

> "If ever a patriotic Jammuite makes a pilgrimage to the holiest of holies for Indian Nationalists, the Cellular Jail at Port Blair in the Andemans across the dreaded Kalapani, he will find there one familiar name elected in bold letters on the plaque that gives a long list of 'Lions' the impereal tormentors tried but failed to tame. The only such untamed lion from the state of J & K is none other than Comrade Dhanwantri".

अर्थात्—"यदि कोई देशभक्त जम्मू निवासी, नाम से ही भय पैदा करने वाले, अंडेमान द्वीप के पास, पोर्ट ब्लेअर में सेलूलर नाम की उस जेल की तीर्थ-यात्रा करने जाए, जो भारतीय राष्ट्रवादियों के लिए सब से पवित्रतम स्थान माना जाता है, तो वहां उस जेल की दीवार में लगे एक शिलापट्ट में खुदे हुए अनेक शेर-जवानों के नामों में शामिल उस सिंह-समान वीर पुरुष का नाम पढ़ कर वह रोमांचित हो जाएगा, जिस नाम की चर्चा उसने पहले शायद सुनी हुई है। "इन बहादुर देश-प्रेमियों को साम्राज्यवादी दमन चक्र तथा यातनाएं भी अपने लक्ष्य से विमुख नहीं कर सकी थीं। इन्हीं सिंह-पुरुषों में जम्मू-कश्मीर राज्य का भी एक सिंह-पुरुष था, जिसका नाम था कामरेड धन्वन्तरी।"

का० धन्वन्तरी श्री रणवीर हाई स्कूल, जम्मू से 1917 ई० में मैट्रिक पास करके लाहौर चले गए थे। वहां सरदार भगतसिंह, चन्द्रशेखर, राजगुरु जैसे क्रान्तिकारियों के सहयोगी बने और सिर पर कफ़न बांधकर देश के स्वतन्त्रता-संग्राम में कूद पड़े। कुल मिला-कर उन्होंने सत्रह वर्ष का समय जेलों में काटा और बर्तानवी सरकार के जेल-अधिकारियों के हाथों अमानवीय यातनाएं भोगीं। वे आजीवन अविवाहत रहे। 1902 ई० में जम्मू में जन्मे धन्वन्तरी सन् 1953 में जम्मू में ही मरे।

—शास्त्री जी, आज हम देख रहे हैं कि जम्मू का भूगोल कितना बदल गया है। लोगों के

रहन-सहन में असाधारण परिवर्तन हुआ है। स्वतन्त्रता से पूर्व, यहां का जन-जीवन कैसा था? उस जमाने में शिक्षा के कैसे साधन उपलब्ध थे? लोगों का सांस्कृतिक जीवन कैसा था?

—हमारी स्वतन्त्रता का वर्ष, 1947 ई० एक गहरी रेखा के समान बन गया है, पुराने और नए जम्मू में। जहां इस शहर की जनसंख्या '47 से पहले मात्र कुछ हज़ार थी, आज वह एक अनुमान के अनुसार 8-9 लाख तक जा पहुंची है। पहले पुराना जम्मू शहर घौंथली की ढक्की रेडियो स्टेशन के पास से शुरू होकर 'गुमट-गेट' तक ही सीमित था। हां, गुमट के नीचे 'चान्द नगर' का मुहल्ला सत्ता में आ रहा था। और आज आम आदमी तो बतला नहीं पाएगा कि जम्मू शहर, चारों दिशाओं में कहां-कहां तक फैल चुका है?

पुराने जम्मू शहर में सिर्फ तांगे की सवारी चलती थी। मोटर-कारें उंगलियों पर गिनी जा सकती थीं और आज आटोरिक्शा मिनी बसें, छोटी कारें, ट्रक, बसें, इतनी तेजी से बढ़ती हुई संख्या में दनदनाती हुई दौड़ रही हैं कि आप के लिए सड़क के एक ओर से दूसरी ओर 4-5 गज़ का फ़ासला तय करना भी भय और आशंका से भरी हुई एक समस्या बन जाता है। जम्मू उत्तर भारत का, अपनी प्राकृतिक स्थिति के कारण एक बड़ा खूबसूरत शहर था। सरसब्ज पहाड़ियों में सुरक्षित, तवी नदी (तौषी) का निर्मल जल-प्रवाह इस शहर के स्वास्थ्य का संरक्षक था। इसके उत्तर में फैला हुआ घना जंगल, इस शहर के निवासियों के लिए प्रकृति की ओर से दिया हुआ एक शाश्वत वरदान था।

और आज इसे संरक्षण देने वाली वे पहाड़ियां, बनस्पति-विहीन होकर नंगी हो गई हैं। तवी के जल-प्रवाह की निर्मलता ख़तरे में पड़ती जा रही है। प्रकृति की ओर से मिला, वह हमारे जीवन के लिए वरदान-स्वरूप घना जंगल, बढ़ती हुई आबादियों के घेरे में आता जा रहा है। महाराजा प्रताप सिंह (राज्यकाल 1885 ई० तक) के समय की, जम्मू प्रदेश के एक फोटो-चित्र की प्रतिलिपि मेरे पास है। उसे देख कर अनुभव होता है कि यह हमारे पुरखों का चित्र नहीं होगा, अथवा हम, इस चित्र में दीखने वाले बुजुर्गों की सन्तान नहीं हो सकते। किसी बात में भी हम उनके साथ मेल नहीं खाते।

मैं मानता हूं कि परिवर्तन प्रकृति का अनिवार्य नियम है। परिवर्तन का पहिया समय की पटरी पर गतिशील रहता है। सवाल उसकी गति का है। यह गति कभी सदियों तक इतनी धीमी रहती है कि इसकी हरकत को हम महसूस भी नहीं करते। लेकिन अपने इसी जीवन में स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद, परिवर्तन का यह पहिया इतनी तेजी से घूमा है कि इसके बवंडर में फंसा हुआ जन-जीवन हिचकोले पर हिचकोले खाता जा रहा है। उसके लिए सम्भल पाना भी कठिन होता जा रहा है।

—शास्त्री जी, परतन्त्रता के दिनों में जम्मू में शिक्षा-सस्थाएं कैसे चल रही थीं। उनकी व्यवस्था कैसी थी और पढ़ाई का स्तर कैसा था? कुछ प्रकाश डालिये।

—पीछे किसी प्रसंग में मैंने महाराजा प्रताप सिंह के शासन-काल में, उनके आदेश से जारी किए गए डोगरी ऐलाननामे (इश्तिहार) का जिक्र किया था। यह ऐलाननामा, उस महाराजा की बे-बसी का इश्तिहार था। विदेशी साम्राज्य का अंकुश उसके सिर पर भी

लटकता रहता था। विदेशी साम्राज्यवादी-तंत्र ने इन सामन्तों को यह आश्वासन दे रखा था कि हमारे हितों का संरक्षण करते रहो। और फिर अपनी गद्दी और अपनी कलगी को सुरक्षित समझ कर, अपनी रियासत में जैसे चाहो वैसे शासन चलाते रहो।

इतनी दयनीय स्थिति के रहते भी महाराजा प्रतापसिंह की हार्दिक इच्छा थी कि वह अप ी रियासत में आधुनिक शिक्षा का शुभारम्भ कर सकें।

—महाराजा रणबीर सिंह के शासन-काल (1857 ई० से 18 5 ई०) को तो, विद्या के प्रचार-प्रसार की दृष्टि से, बड़ा सराहनीय समय माना जाता है। आपका क्या विचार है?

—जी, हां, यह बात भी सत्य है। महाराजा रणवीर सिंह के राज्य काल में पढ़ाई-लिखाई, पुराने परम्परावादी शिक्षा-केन्द्रों में ही होती थी। हिन्दुओं के लिए मन्दिरों में संस्कृत पाठशालाएं स्थापित की गईं; मुसलमानों के लिए मस्जिदों में मदरसे खोले गए। महाराजा रणबीर सिंह के समय में एक सरकारी अनुवाद-विभाग भी चलता था, जिसमें अधिकतर अंग्रेज़ी चिकित्सा-ग्रंथों के अनुवाद करवाए जाते थे। इस अनुवाद-विभाग (Translation Bureou) की चर्चा मैंने प्रारम्भ में ही की है। महाराजा रणवीर सिंह ने पुरानी पांडुलिपियां इकट्ठी करने का भी सराहनीय काम किया। इनमें संस्कृत भाषा की पांडुलिपियां ही अधिक हैं। श्री रघुनाथ मन्दिर में एक अच्छी संस्कृत पाठशाला भी काम करती रही थी और एक संस्कृत लाइब्रेरी भी स्थापित की गई थी। पाठशाला आजकल जम्मू के समीप ही 'बीरपुर' नाम के एक ग्राम में स्थानान्तरित कर दी गई है और 'पुस्तकालय अभी भी रघुनाथ मन्दिर परिसर में ही विद्यमान है।

लेकिन महाराजा रणबीर सिंह के शासन-काल में आधुनिक शिक्षा के प्रसार-प्रचार के एक स्कूल की स्थापना जरूर हुई थी। शायद जम्मू-प्रान्त में उस समय यही एक मात्र स्कूल था। इस स्कूल का नाम था "जम्मू हाई स्कूल"।

लेकिन इस स्कूल के लिए वर्तमान नई इमारत बनाने और हाई स्कूल के आगे की श्रेणियों की पढ़ाई की सुविधा उपलब्ध करवाने के लिए पहले अजायबघर में अस्थायी कालेज चालू करने और बाद में उसके लिए नहर के पास नए कालेज की स्थापना का श्रेय महाराजा प्रताप सिंह को ही जाता है। यह उस महाराजा की दूर-अन्देशी की सूचक, लोक-कल्याण की योजना थी।

—और लोगों के मौलिक अधिकारों की क्या स्थिति थी?

—रियासत के लोगों में विशेष रूप से देहातों में शिक्षा की सुविधाएं उपलब्ध नहीं थीं। बिजली भी अभी सुलभ नहीं हुई थी। लोग प्राय: भाग्यवादी थे। इसलिए अपनी तंगदस्ती को भी अपने भाग्य का ही फल मानते थे। अपने पुश्तैनी काम-धन्धों पर ही वे अधिकतर निर्भर रहते थे।

ऐसे लोगों में अपने मौलिक अधिकारों की चर्चा, चेतना कहां से आती? उन बेचारों को तो इस बात की भी खबर नहीं थी कि उनके हाकिमों के महलों में, राज-परिवार के सदस्यों में कितना सौहार्द है, कितना वैमनस्य है, और वहां कैसे-कैसे षड्यन्त्र होते रहते हैं। महाराजा प्रतापसिंह, वैसे तो चालीस वर्ष तक रियासत के महाराजा बने रहे लेकिन कितने

लोग जानते हैं कि उनके छोटे भाईयों के षड्यंत्र के फलस्वरूप, अंग्रेजी सरकार ने उन्हें बीस वर्ष तक राज-अधिकार से वंचित रखा था। जो बेचारा अपने मौलिक अधिकारों की रक्षा नहीं कर सका था, उसके शासन-काल में प्रजा के मौलिक-अधिकारों की चेतना कहां से, और कैसे जागती ?

—स्वतन्त्रता से पहले और स्वतन्त्रता के बाद जम्मू प्रदेश में सांस्कृतिक चेतना का क्या स्वरूप रहा ?

—मैं अब मानने लगा हूं कि संस्कृति, जंगली फूलों की तरह होती है। वह अपने सहज परिवेश में, अनजाने में ही अंकुरित होकर विकसित होती है। जैसे इस प्रदेश का लोक-साहित्य, लोक-नृत्य इस प्रदेश का लोक-संगीत तथा इसकी लोक-नाट्य-परम्परा और स्थानीय ग्राम-देवताओं से जुड़े मेले, समारोह इत्यादि। उस समय जीवन में चाहे सभी लोगों को एक-समान सुख-सुविधा के साधन उपलब्ध नहीं थे, फिर भी लोगों में आपसी विश्वास और भरोसा जरूर था। ऊंच नीच भी थी। छुआछूत की परम्परा भी थी, लेकिन ऐसा लगता था कि वातावरण में घृणा का प्रदूषण नहीं था। लोक-जीवन को जोड़ कर रखने वाली संस्कृति में सभी लोगों की सहज भागीदारी रहती थी। अवश्य ही उस सांस्कृतिक-परम्परा के योग-क्षेम में स्वर्ण जाति वालों की अपेक्षा श्रमिक वर्ग और जिन्हें आज दलित कहा जाने लगा है उनका योगदान प्रमुख था। लोक-संस्कृति के ये विविध फूल, उन लोगों की भावनाओं की क्यारियों में खिलते थे और इनकी सुरभि से समस्त लोक-जीवन महक उठता था। बसोहली की "भगतां" नाम की लोक-नाट्य-परम्परा, बाईस नालों (घाटियों) वाले बम्हाग के पहाड़ी प्रदेश की भाखें और वहां का कुड नृत्य, कंडी के इलाके की छिंजें (कुश्तियों के मुकाबले) फुम्मनी नृत्य और लोक-गीतों की मधुरिमा, जोगियों, गारडियों और दरेसों की संगीत बद्ध लोकगाथाएं, ग्रामीण खेलों और त्योहारों में लड़के और लड़कियों की तन्मयता, यह सब उसी लोक संस्कृति के फूल हैं।

यही इन्द्र धनुषी रंग थे इस प्रदेश की सांस्कृतिक-परम्परा के जिन्हें किसी का संरक्षण प्राप्त नहीं था, किन्हीं तथा-कथित कला-पारखियों का नेतृत्व और दिशा निर्देश उपलब्ध नहीं था।

ये जंगली फूल स्वयं जन्म लेकर विकसित होते रहे हैं।

—स्वतन्त्रता के बाद, इस संस्कृति के विकास के लिए क्या-क्या सुविधाएं उपलब्ध हुई ?

—स्वतन्त्रता के बाद, शहरों में इस संस्कृति के संरक्षण तथा संवर्धन का उद्देश्य घोषित करके अनेकों सरकारी और गैर-सरकारी संस्थाएं सत्ता में आईं, जैसे आज सहसा N. G. O. नाम की संस्थाओं की बाढ़ सी आ गई है। इनमें कुछ संस्थाएं वस्तुतः अपने उद्देश्य के प्रति प्रतिबद्ध होकर काम कर रहीं हैं। लेकिन उनकी संख्या नगण्य है। ज्यादातर जिनमें दम्भ दिखावे और व्यक्तिगत लाभ की भावना ही प्रमुख है। बहरहाल यह लम्बी बहस का विषय है। फिलहाल, इतना ही...। □

संवाद : तीन

मानवाधिकारों के लिए समर्पित, पत्रकार, चिंतक एवं प्रबुद्ध लेखक

(बलराज पुरी से नरेश गुलाटी की बातचीत)

—पुरी साहब, हम देश की स्वतन्त्रता के पचास वर्ष मना रहे हैं और इस समय स्वतन्त्रता आंदोलन का स्मरण स्वत: हो आता है। 1942 और 1947 के बीच जब आंदोलन अपने प्रखरतम रूप में था, तब आप युवा थे। हमें बताएं कि स्वतन्त्रता आंदोलन को लेकर आपका प्रथम स्मरण क्या है?

—1942 से पहले का मुझे कुछ खास याद नहीं आता, परन्तु जून 1942 के बाद आंदोलन को लेकर मैंने जो जाना, समझा और महसूस किया वह लगातार उर्दू साप्ताहिक "कश्मीर संसार" में छपता रहा। यह पत्र उसी समय प्रारम्भ हुआ और मैं इस का सम्पादक था। उस अर्से में एक नौजवान के नाते मैं जुलूसों-जलसों में शामिल होता था, पर मुझे लगा कि एक पत्र प्रकाशित करके मैं कुछ ठोस कर पाऊंगा। इस पत्र के माध्यम से मैंने एक मत बड़े स्पष्ट रूप में सामने रखा था—वह था धर्म के आधार पर प्रतिपादित दो राष्ट्र सिद्धांत का विरोध। पत्र के सम्पादन कार्य से मेरी स्वयं की धारणाएं स्पष्ट भी हुईं और पुष्ट भी। मैं इन्हें अपने पाठकों तक पहुंचाने में लगातार प्रयत्नशील रहता था। मुझे कुछ पाठकों की प्रतिक्रिया याद आती है—जब वे पत्र के कार्यालय में 'संपादक' बलराज पुरी से मिलने आते तो किसी बुजुर्ग या मध्य-वय व्यक्ति को खोजते। जब मैं उन्हें सम्पादक की कुर्सी पर दिखाई देता, तब भी वे विश्वास न करते और पूछते कि मैं सम्पादक का क्या लगता हूं?

—हमारा स्वतन्त्रता आन्दोलन सत्याग्रह, सशस्त्र सैनिक विद्रोह, क्रान्तिकारी संगठनों की सीधी कार्रवाई जैसे सभी तरीकों पर आधारित था। आप निजी रूप से किस तरीके में विश्वास रखते थे?

—मुझे सशस्त्र आंदोलन या क्रांतिकारी उपाय आकर्षित नहीं करते थे। मैं सैद्धांतिक रूप में गांधी के अहिंसक सत्याग्रह के निकट था, इसलिए भी कि इसमें जन आंदोलन बनने की क्षमता थी। और स्वतन्त्रता पाने के लिये आंदोलन का व्यापक होना बहुत आवश्यक

था। यों मैं प्रतिरोध व्यक्त करने के रूपों में छोटी-मोटी तोड़फोड़ को ऐसी हिंसा भी नहीं मानता था।

मैं फांसीवाद से भी प्रेरित नहीं होता था। इसीलिए बर्तानिया के विरुद्ध संगठित जर्मनी-इटली जैसी ताकतों से तालमेल करके स्वतन्त्रता प्राप्त करने की नीति का समर्थन नहीं कर पाता था। नेता जी सुभाषचन्द्र बोस की आजाद हिन्द फौज और उनकी जर्मन दोस्ती को लेकर बाद में स्थिति स्पष्ट हुई और साम्यवादियों ने भी उन्हें नायक मान लिया किन्तु उस समय तो साम्यवादी भी इसका औचित्य नहीं मानते थे, न ही मेरे जैसे समाजवादी मानते थे, क्योंकि बोस के पक्ष में तर्क करने का अर्थ था हिटलर और मुसोलिनी को सभ्य मान लेना। किन्तु यह भी स्पष्ट करना जरूरी है कि बोस ने अपनी भी कुछ शर्तें जर्मनी के साथ रख छोड़ी थीं।

मैं संगठित हिंसा का पक्षधर भी नहीं था।

—स्वतन्त्रता आन्दोलन का प्रसार जम्मू कश्मीर और विशेषतः जम्मू में कैसा दिखाई पड़ता था ? क्या आन्दोलन की लहर यहां वैसी ही थी जैसी कि देश में अन्यत्र ?

—वास्तव में जम्मू कश्मीर में स्वतन्त्रता आंदोलन की दो शाखाएं थीं। जहां कश्मीर में कश्मीरी राष्ट्रवाद भारतीय राष्ट्रवाद के समानांतर आंदोलन की तरह उभरा, वहीं जम्मू में जो लहर थी वह अपने स्वरूप में राष्ट्र-राज्य की समर्थक थी। कश्मीरी राष्ट्रवाद का स्वर 'शख्सी-राज' के विरुद्ध अधिक था, हालांकि यह बर्तानिया के विरुद्ध भी था। इस स्वर में राष्ट्र-राज्य में सम्मिलित होने की स्फूर्त इच्छा-आकांक्षा निश्चय नहीं थी। जबकि जम्मू क्षेत्र के आंदोलन में बर्तानवी साम्राज्य से मुक्ति की आकांक्षा मुखर थी और इस प्रक्रिया में स्वतः ही सामंतवाद की समाप्ति की सद्-इच्छा भी सम्मिलित थी।

'नया कश्मीर' बनाने की बलवती इच्छा ने कश्मीर के आंदोलन को धार दे दी थी। आन्दोलन की मुख्यधारा के नेताओं तथा पंडित नेहरू से सम्पर्क के कारण 'नया कश्मीर' के कर्णधारों की धाक दूर-दूर तक बनी (इसके बरक्स जम्मू में न ऐसी प्रवृत्ति बनी न ही मुख्य धारा के आंदोलन का कोई प्रमुख केन्द्र यहां बन सका।

अलबत्ता चनैनी के जागीरदार के खिलाफ वहां जोरदार आंदोलन हुआ जो स्वतन्त्रता आंदोलन की ही देन माना जाएगा। मीरपुर और पुंछ में भी आंदोलन की प्रतिध्वनि थी। जम्मू में 1945 का रोटी आंदोलन हिन्दु-मुसलमान इत्तिहाद के लिये भी याद किया जाएगा। इस आंदोलन में हिन्दु-मुसलमान इकट्ठे थे। आंदोलन के दौरान हुए गोलीकांड में 5 मुसलमान और 4 हिन्दू मरे जिनका अन्तिम संस्कार सामूहिक रूप से हुआ। इस अवधि में चौधरी मोहम्मद शफी ने इस क्षेत्र के लोगों का बखूबी नेतृत्व किया था।

महात्मा बुद्धसिंह ने डिप्टी कमिश्नर पद से त्यागपत्र देकर डोगरा सभा का कार्य सम्भाला और आंदोलन की जड़ें जम्मू में लगाई थीं।

1925 में बुद्धसिंह जी ने घोषणा की थी जम्मू कश्मीर की डोगरा सभा, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के समतुल्य कार्य करेगी। इस दौरान सभा बनाई गई जिससे सर्वहारा की दशा पर ध्यान केन्द्रित किया गया। विश्वनाथ केरनी द्वारा प्रकाशित "सुदर्शन" की भूमिका को भी याद किया जाना चाहिये। वे स्वयं इस आंदोलन के पहले जेलयात्री थे।

1947 के अगस्त को उस प्रसिद्ध मध्य रात्रि को लेकर आपकी स्मृति में क्या है ?

—जहां सारे देश में 1[c] अगस्त के दिन खुशियां मनाई जा रही थीं वहीं जम्मू-कश्मीर में अनिश्चय का वातावरण था। वास्तव में उस एक दिन तो पाकिस्तानी ध्वज जम्मू के प्रतिष्ठानों-कार्यालयों, भवनों पर भी फहरा दिए गए थे। हम लोग जहां नेहरू के भाषण और वाक शैली से अभिभूत स्वतन्त्रता के अनुभव को जी रहे थे, वहीं उस दिन तो उत्कण्ठित भी हो गये थे। यह तो बाद के घटनाक्रम ने जम्मू-कश्मीर का इतिहास दूसरी तरह से लिखा, वर्ना फैसले के लिए भारत सरकार का दिल्ली बुलावा महंगा पड़ जाता।

—इन 50 वर्षों में देश की सामाजिक और राजनैतिक चेतना विकसित हुई है, आर्थिक शैक्षिक एवं अन्य स्तरों पर प्रगति हुई है। आपकी नजर में विशिष्टतम उपलब्धि क्या है ?

—भाषा-बोली, क्षेत्र-संस्कृति और धर्म पर आधारित वैविध्य का भारत में प्राचुर्य है। इस सब के बावजूद या इस सब के साथ भारत में राष्ट्रीय एकता कायम रखी गई है और प्रजातांत्रिक व्यवस्था की जड़ें दृढ़तर हुई हैं। दुनिया भर में देख लें कहीं भी बिना औद्योगिक विकास के प्रजातन्त्र नहीं आया। चीन इतना बड़ा देश जहां बहुसंख्यक लोग एक ही नस्ल के है—किन्तु वहां प्रजातन्त्र ही नहीं है। रूस में सर्वसत्ता थी किन्तु एकता कायम नहीं रखी जा सकी। बर्तानिया में 18वीं सदी में औद्योगिक क्रांति आ चुकी थी, और इसे प्रजातांत्रिक परम्परा का जनक माना जाता है किन्तु वहां और यूरोप के कुछ देशों में पुरुषों-महिलाओं को समान मताधिकार प्राप्त नहीं रहे—ऐसा दो सदियों के बाद बीसवीं सदी में सम्भव हुआ। भारत में यह अधिकार शुरू से दिया गया और मैं मानता हूं कि इसका उचित प्रयोग हुआ है जबकि आर्थिक विकास और समृद्धि की दृष्टि से हम अभी भी पिछड़े हुए हैं।

हमारे यहां छुआछूत की समाप्ति भी एक क्रांतिकारी उपलब्धि रही है। भाषाई आधार पर राज्यों का पुनर्गठन और सांस्कृतिक उत्थान, (आजादी के तुरन्त बाद के सालों) में नैतिकता और आदर्श को मान्यता आंतरिक और बाह्य दोनों क्षेत्रों में—भी हमारी प्राप्तियां रही हैं। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर नेहरू, कैनेडी और ख्रुश्चेव की स्टेट्समैनशिप में एक विकासशील देश के नाते भारत की भूमिका ऐतिहासिक मानी जाएगी।

—इन प्राप्तियों का श्रेय आप किसे देना चाहेंगे प्रत्यक्षत भारत के जन-मानस को, नेतृत्व को या परोक्षत: भारतीय परम्परा में अन्तर्निहित किन्हीं मूल्यों को ?

—मैं समझता हूं यह श्रेय किसी एक का नहीं हो सकता। भारतीय सहिष्णुता और पाश्चात्य मूल्यों के प्रभाव से जो नई उर्वरा भूमि तैयार हुई उसी में इन प्रजातांत्रिक, नैतिक एवं भावनात्मक प्राप्तियों के बीज पड़े थे। इस उर्वरा भूमि को तैयार करने में जन मानस और तत्कालीन नेतृत्व दोनों ने काम किया।

—आज देश में जो परिदृश्य है उसके कारण निराशा और उदासीनता आई है। सार्वजनिक जीवन में, विशेषत: राजनीति में मूल्यों और मर्यादा का जो ह्रास हुआ है क्या यह स्थाई होगा या हम इस प्रवृत्ति से छुटकारा पा लेंगे ?

—वास्तव में इस प्रश्न का उत्तर एक सरलीकृत रूप में खोजा नहीं जा सकता। एक बात तो यह है कि आज हम जिन प्रवृत्तियों को देख रहे हैं उनकी बुनियादें एकता के नाम

पर किये गये केन्द्रीकरण में थीं। सर्वमान्य की आकांक्षाएं बहुत बढ़ाई गईं। गांधी जी ने हमारे समाज में आदर्श बहुत ऊंचे किये। इन आदर्शों के निर्वाह के लिये एक गांधी स्थायी रूप से दरकार हो गया। यह सम्भव नहीं था। हालांकि गांधी जी के बाद कुछ नेता थे, किन्तु वह उसी दौर की देन थे। यह नेतृत्व उस खास दौर के साथ समाप्त होता चला गया।

इस दौर में पश्चिमी भारतीय दर्शन तथा अनुभव के समन्वय से नये मूल्य भी बने। किन्तु इन मूल्यों का प्रभाव भी कम होता चला गया। व्यावहारिक धरातल पर गांधी जी के अनुसरण में जयप्रकाश नारायण जैसे नेता दलगत राजनीति से बाहर हो गए। इससे आदर्शों को लेकर चलने वाली समाजवादी धारा भी यतीम हुई। बुद्धिजीवियों ने भी अपनी भूमिका नहीं निभाई। इन लोगों ने तो राजनीति से पूरा किनारा किया। परिणामत: अवसरवादियों संकीर्णतावादियों और विचारशून्य लोगों ने राजनीति पर कब्जा कर लिया। सिद्धांतवादी पार्टियां नहीं रहीं। परिणाम सामने है।

—दलगत राजनीति को लेकर क्या आप स्वयं भी अन्य बुद्धिजीवियों की तरह नहीं रहे ?

—नहीं, ऐसा नहीं है। मैं सैद्धांतिक रूप से दलगत राजनीति और सत्ता की राजनीति से परहेज नहीं करता। परन्तु मैं जिस भी दल से राजनीति में सक्रिय रहना चाहता था, वहां से मुझे निष्कासित किया गया। मेरी जो मान्यताएं हैं उनके चलते और कोई दल मुझे पचा नहीं सकता था, लिहाजा मैं दलगत राजनीति से बाहर रहने को मजबूर था।

—भाषा, जाति, सम्प्रदाय, क्षेत्र पर आधारित जो उपराष्ट्रीय पहचान हैं उसकी प्राप्ति में भी सिद्धांत विलुप्त हो गया है, क्या ऐसी पहचान के कोई अर्थ शेष रहेंगे ?

बेशक यह पहचान अर्थपूर्ण रहेगी। पहचान की प्राप्ति या मान्यता का ध्येय न्यायसंगत अधिकार अथवा सत्ता में भागीदारी है। इस की प्राप्ति के लिये कुछ असंगत करना या हो जाना मुख्यत: इसलिए भी होता है कि सामान्यत: ऐसी आकांक्षा को लगातार अनदेखा किया जाता है। तब यह आकांक्षा उग्र रूप ले लेती है—वहीं सिद्धांत या तर्कसंगत तरीकों को तिलांजलि दे दी जाती है। किन्तु मार्ग या माध्यम किंचित भ्रष्ट होने से 'पहचान' की अर्थवत्ता समाप्त नहीं होती।

—जो परिदृश्य हमने खड़ा किया है वहां प्राप्तियां हैं, परन्तु अभी प्रत्येक भारतीय की बुनियादी जरूरतें पूरी नहीं की जा सकी हैं। इस अन्दरूनी लक्ष्य के पिछड़ते चले जाने के बावजूद भारत वैश्विक स्तर पर अपनी छवि बनाने में पिछड़ना नहीं चाहता। इस सब के रहते भविष्य के लिए हमारी दृष्टि क्या हो ?

—अभी सामाजिक यथार्थ और राजनैतिक दर्शन में बड़ा फासला है। व्यवहृत सिद्धांत फिलहाल यथार्थ को पकड़ कर उसे बेहतरी के लिए परिवर्तित करने में सक्षम नहीं है। इसलिये सभी चीजों को लेकर पुनर्वालोकन-पुनर्विचार की जरूरत है। एक बात तो यह भी है कि आज के उत्तर आधुनिक समाज और प्राचीन सिद्धांत में कुछ संगति है। हमारे पास सभ्यता, दर्शन और संस्कृति की जो समृद्ध परंपरा है उससे हम आज के यथार्थ की नब्ज पकड़ने में कामयाब हो सकते हैं। यह एक अलग-सी बात है परन्तु इसे समझना चाहिए।

दूसरी बात यह कि बहुलवादी भारत में विचार की मुकम्मल स्वतन्त्रता दी जानी चाहिए। असहमति की पूरी छूट देकर हम व्यक्ति को समूह से अल्पसंख्यक को बहुसंख्यक से जोड़ने तादात्म्य बनाने में सफल हो सकते हैं। अल्पसंख्यक को असहमति का कितना अधिकार हम देते हैं इसी में हमारे लोकतंत्र की परख तय होती है ....

लोकतंत्र की परख के लिए अल्पसंख्यक की असहमति का अधिकार है क्या उसकी कोई सीमा-रेखा भी तय की जानी चाहिए ?

—देखिये, अल्पसंख्यक को रूढ़ अर्थ में न लें तो सीमा रेखा का प्रश्न नहीं उठेगा।

—मैं सहमत हूं, किन्तु 'अल्पसंख्यक' के विस्तृत के नोटेशन में भी क्या सीमा रेखा की आवश्यकता मानेंगे ?

—नहीं, क्योंकि असहमति का अधिकार अक्षुण्ण रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए । अत: उपराष्ट्रीय पहचानों को पूरी मान्यता देते हुए राष्ट्रवाद की नई परिभाषा तलाशनी होगी। यह भी समझना होगा कि हम एक साथ स्थानिक और वैश्विक हो रहे हैं।

मैं मानता हूं कि राजनीति में बुद्धिजीवी की बौद्धिक और नैतिक शक्ति का लोप नहीं हुआ है। इनके अलावा जो स्वैच्छिक संगठन हैं वे लोकहित में एक बड़ी ताकत के रूपमें उभरे हैं। बुद्धिजीवी और स्वैच्छिक संगठन यदि पूर्ण समर्पण के साथ सामने आएं तो समाज के लिए नई दिशाएं दिखाई देंगी। □

संवाद : चार

स्वतन्त्रता के पचास वर्ष लम्बे रास्ते के मील पत्थर

(प्रख्यात पत्रकार वेद भसीन से डॉ० अशोक जेरथ की बातचीत)

□ डा० अशोक जेरथ

एक सदी जब करवट लेती है तो अनेक वर्षों का रेला बहता हुआ सामने से गुजरने लगता है। धारा के साथ चलते-चलते कब कोई कहां इस धारा से अलग पड़ जाए कोई नहीं जानता। जो धारा के साथ चलते रहते हैं वे नियतिवादी की संज्ञा पा जाते हैं। और जो धारा की दिशा को अपने अनुसार बदल दें वस्तुत: वही कर्मवीर कहलाते हैं—इन्हीं लोगों में एक नाम है वेद भसीन का जिन्होंने अपने लिए जो मार्ग अनायास ही चुना था न केवल उस पर पूरी ईमानदारी के साथ चले अपितु उसे दूसरों के लिये भी प्रशस्त करते आये।

किशोर वेद भसीन अपने अन्तर में एक धधकती क्रांति ज्वाला लिए था। इन्होंने केवल बारह वर्ष की उम्र में भारत छोड़ो आन्दोलन की चिंगारी लेकर अपने साथियों श्री बलराज पुरी तथा श्री वेदपाल दीप के साथ मिल कर समाजवादी मूल्यों को जम्मू में स्थापित करने का बीड़ा उठाया। वे अपने गंतव्य और सीमाएं स्वयं निर्धारित करते रहे। जम्मू में समाजवादी पार्टी नामक कोई संगठन नहीं था। इन्हें राष्ट्रीय कांग्रेस और नेशनल कांग्रेस के कार्यकर्त्ताओं के साथ मिल कर समाजवादी मूल्यों की मशाल को जलाए रखने की प्रेरणा राष्ट्रीय स्तर के नेताओं श्री जयप्रकाश नारायण तथा उनके साथियों द्वारा मिलती रही। कालान्तर में स्कूल और कालेज के छात्र आन्दोलनों में सक्रिय भाग लेने का उत्तरदायित्व तो इन पर पड़ा ही पर साथ ही छात्रों को संगठित कर उन्हें राष्ट्रीय आन्दोलनों के साथ जोड़ने की भूमिका भी वहन करनी पड़ी। फलत: स्टूडेंट यूनियन के सचिव का भार इनके कन्धों पर आ पड़ा। यह छात्र संगठन राष्ट्रीय कांग्रेस, नेशनल कांफ्रेंस और भारत की सोशलिस्ट पार्टी के करीब समझा जाता था। इस संगठन का सचिव होना एक बहुत बड़ी बात थी। यह गौरव इन्हें मात्र चौदह वर्ष की आयु में प्राप्त हुआ। ı944से 1948 के चार वर्षों तक इन्होंने अपने इस दायित्व को बखूबी निभाया। इस बीच कई आन्दोलन हुए। इस संगठन का कार्यक्षेत्र भारत के स्वतंत्रता संग्राम तक ही सीमित नहीं था अपितु स्थानीय समस्याओं सामाजिक, राजनैतिक एवं

शैक्षणिक क्षेत्रों में भी पैठ पाकर ये छात्र अपनी सक्रिय भूमिका निभा रहे थे। भारत छोड़ो आन्दोलन की राष्ट्रीय भूमिका में अपनी प्रभावशाली स्थिति को और सुदृढ़ करते हुए वेद भसीन एवं उनके साथियों ने 'कश्मीर छोड़ो' आन्दोलन भी जम्मू में शुरू किया। 1947 में जम्मू नगर में एक प्रभावशाली जुलूस की अगुआई करते हुए वेद भसीन, वेदपाल दीप और इनके अन्य साथियों को पकड़ कर जेल भेज दिया गया। जम्मू में उन दिनों राजनैतिक स्तर पर बड़ी गहमागहमी थी। इस जलूस में देश के अन्य भागों से भी लोगों ने भाग लिया था विशेष सोशलिस्ट पार्टी की पंजाब शाखा के कार्यकर्ताओं ने इसमें खूब बढ़चढ़ कर भाग लिया था।

रणवीर सिंह पुरा उन दिनों जम्मू प्रांत में विशेष कर राजनैतिक गतिविधियों का केन्द्र रहा था। चूंकि पंजाब के साथ जम्मू का सम्पर्क स्यालकोट के माध्यम से ही था अत: स्यालकोट होते हुए जो भी कार्यकर्ता जम्मू में प्रवेश करते थे उनका स्वागत श्री रणवीर सिंह पुरा में ही किया जाता था।

1946 में अरुणा आसिफ अली का आगमन जम्मू में हुआ। वेद भसीन उनके स्वागत के लिये स्यालकोट गए और वहीं से उनके साथ रणवीर सिंह पुरा आए जहां मुख्य जलसे का प्रबन्ध था। वस्तुत: उनका आगमन 'कश्मीर छोड़ो' आन्दोलन के उपलक्ष्य में था। तत्कालीन सरकार ने धर पकड़ शुरू करने से पहले इन लोगों को मंच पर से बोलने से मना कर दिया था। उन दिनों श्री रणवीरसिंह पुरा में चौधरी भारत भूषण, जो बाद में जम्मू के डिवीजनल कमीश्नर भी बने, उन दिनों तहसीलदार थे। जब पुलिस मंच के पास पहुंची तो उस समय शोरस कश्मीरी, नज़ीर समनानी और वेद भसीन मंच पर थे। शोरस कश्मीर लाहौर में 'चट्टान' नामक अखबार चलाते थे। और लाहौर के मकबूल शायरों में थे। मंच के नीचे चौधरी भारत भूषण तथा उनके कारिंदों की ओर से हो, हल्ला मचता रहा ताकि जलसे की कार्यवाही ठप्प पड़ जाए पर सभी कार्यकर्ता उमग से भरे थे। उधर से एक जुमला उभरता तो इधर से शोरस कश्मीरी की ओर से शायरी में जवाब दिया जाता मानों अन्ताक्षरी की प्रतिस्पर्धा चल रही हो। वस्तुत: सरकारी करिन्दे धर-पकड़ करने की बजाय जलसे की कार्यवाही को ठप्प करना चाहते थे। नीचे से आवाज आई कि ऊपर काफिर बैठे हैं। ये हमें क्या बताएंगे कि मंच पर से शोरस कश्मीरी का तुरंत कहा शेर तीर की तरह छूटा—

ज़ाहिदे तंग नजर ने काफिर जाना और
काफिर यह समझता है कि मुसलमान हूं मैं।

मंच पर अरूणा आसिफ अली ने राष्ट्रीय ध्वज उठा रखा था कि सरकारी कारिंदों की ओर से आदेश हुआ कि इनके हाथ से ध्वज छीन लिया जाये। तभी वह शेरनी की तरह गर्ज उठी—है किसी में हिम्मत जो उसके हाथ से यह ध्वज छीन सके। चारों ओर सन्नाटा छा गया और जब तक वह बोलती रही विरोधी भी सांसें रोके उसे सुनते रहे। वस्तुत: उस दिन "हमें पता चला कि अरूणा जी के होने से हम सब में कितनी शक्ति का संचार हुआ है। भसीन जी ने पुराने लम्हों को संजोते हुए कहा। बाद में यह जलूस जम्मू तक बिना किसी विरोधी घटना के सहज रूप से चलता रहा। रास्ते में जगह-जगह लोगों की ओर

से खूब स्वागत किया गया। शाम को रघुनाथ चौक में एक आम जलसे का आयोजन था जिसमें स्थानीय नेताओं के साथ अरूणा जी का सशक्त स्वर भी गूंजा कि अभी अरूणा आसिफ अली जम्मू की सीमा से बाहर भी नहीं गई होंगी की अनेक स्थानीय नेताओं—वेद भसीन, आर० एस० त्रिक्खा तथा दूसरे लोगों को पकड़ कर आर० एस० पुरा जेल भेज दिया गया। इसी प्रकार एक ओर तो आज़ादी का आन्दोलन तेज़ करने के लिए और दूसरे 'कश्मीर छोड़ो' आन्दोलन को तूल देने के लिए जय प्रकाश नारायण का भी आगमन आर० एस० पुरा में हुआ जहां उन्होंने आम जलसे से खिताब किया और बाद में जम्मू में श्री इन्द्रजीत गुप्ता के यहां ज्वेल चौक में स्थित उनके निवास स्थान पर ठहरे। इसी स्थान पर आजकल ज्वेल थियेटर स्थित है। 1946 में ही एक और घटना की ओर संकेत करते हुए भसीन कहते हैं कि इस वर्ष अध्यापक आन्दोलन बहुत जोरों पर था। टीचर्स यूनियन के प्रधान के तौर पर श्री गुलाम रसूल आज़ाद तथा सचिव श्री देवदत्त मैंगी के नेतृत्व में यह आन्दोलन तूल पकड़ रहा था कि जम्मू के छात्र संगठन, स्टूडेंट्स यूनियन ने भी इनका साथ देना उचित समझा फलत: वे अपनी कक्षाओं में से बाहर आ गए। कुछ छात्रों को पकड़ कर जुर्माना किया गया तो वे आमरण अनशन पर कक्षाओं में ले जा सके।

स्वतन्त्रता से कुछ दिन पहले गांधी जी कश्मीर होते हुए जम्मू आए। गांधी जी को सरकारी तौर पर कोई भी सुरक्षा नहीं प्रदान की गई थी सो श्री वेद भसीन जी की देखरेख में एक स्टूडेंट ब्रिगेड बनाया गया जिसके कार्यकर्त्ता बारी-बारी से इस कार्य में लग गए। गांधी जी को बटोत से जम्मू इसी ब्रिगेड की सुरक्षा में लाया गया। जम्मू में उन्हें रिहाड़ी में पंडित जगन्नाथ शर्मा जी के यहां ठहराया गया। प्रात: उन्होंने एक प्रार्थना सभा को रिहाड़ी में ही सम्बोधित किया जिसमें लगभग पांच हज़ार लोगों ने उनका प्रवचन सुना। गांधी जी का जम्मू में यही आगमन प्रथम तथा अंतिम था। इस कार्यक्रम में वेद भसीन का योगदान सर्वोपरि था। सुरक्षा ब्रिगेड बनाने के साथ-साथ गांधी जी के साथ रह कर उनके कार्यक्रम का संयोजन भी भसीन ही कर रहे थे। प्रार्थना सभा का आयोजन भी उन्होंने और उनके साथियों ने ही किया था।

1947 के इसी घटनाक्रम में वेद भसीन ने बताया कि उन दिनों कालेज में कोई भी झण्डा नहीं लगता था कि उन्होंने अपने साथियों के साथ मिल कर नेशनल कान्फ्रेंस और राष्ट्रीय ध्वज दोनों को ही फहरा दिया। प्रतिक्रिया स्वरूप छात्रों का एक वर्ग गेरुआ ध्वज लेकर भी आ गया तो दूसरी ओर सरकार की ओर से भी दमन चलता रहा। भसीन साहब को जब हमने पूछा कि उनके पहले या बाद में कोई ग्रुप ऐसा रहा है जो इन सभी कार्य विधियों में सक्रिय था तो उन्होंने अपने से पहले इस कार्यक्षेत्र में आए बड़ी श्रद्धा से बलराम भसीन का नाम लेते हुए बताया कि 1938-39 में ही बलराम भसीन विशेष सक्रिय थे। उन्होंने 'कश्मीर संसार' एक अखबार भी जम्मू से निकाला था। 1942 के भारत छोड़ो आन्दोलन में श्री बलराम भसीन ने जम्मू के एक अन्य जुझारू श्री रवीन्द्र चौधरी के साथ मिल कर विशिष्ट भाग लिया था। इन्हें कैद कर लाहौर की लाल किला जेल में भेज दिया गया था। बलराम भसीन आज भी खादी के कपड़े पहनते हैं और पूर्ण रूप से समाजवादी कार्यकर्त्ता हैं।

आज़ादी के बाद जम्मू में प्रजा सोशलिस्ट पार्टी का कार्यालय खुला तो 1954 में

पी० एस० पी० की जम्मू कश्मीर की इकाई स्थापित की गई। इस कार्यालय में वेद भसीन तथा उनके साथियों ने नियमित आना शुरू कर दिया। उन्हीं दिनों जम्मू में ग्राहम का आगमन हुआ जो डिक्शन प्लेन के मुताबिक राज शुमारी के माध्यम से जम्मू कश्मीर रियासत को तीन हिस्सों में बांटना चाहता था।' वेद भसीन और उनके साथियों ने डट कर विरोध किया और ग्राहम विरोधी आन्दोलन ने इतना जोर पकड़ा कि सरकार को अतंत: वेद भसीन तथा उनके चुनिन्दा साथियों को गिरफ्तार करना पड़ा। इनमें से मुख्य थे मोहन खजूरिया, मंगतराम तथा चूनी लाल शर्मा। इनकी गिरफ्तारी पर इतना बावेला मचा कि जब इन्हें अदालत में पेश किया गया तो माननीय न्यायाधीश ने अदालत बरखास्त होने तक इन्हें बन्द रखने के लिए कहा और बाद में छोड़ने के आदेश दे दिए। वैसे भी ये कोई दंगई तो थे नहीं बल्कि देश के हित के लिए आन्दोलन कर रहे थे। शांतिपूर्ण ढंग से विरोध करने का तो सभी को अधिकार है।

शेख अब्दुल्ला की प्रथम सरकार जब वजूद में आई तो वेद भसीन को सरकार में शामिल होने का न्योता दिया गया पर वह अनमने रहे। शेख साहब जब दुबारा हकूमत में आए तो एक बार फिर इन्हें आमंत्रित किया गया। 1975 में शेख साहब ने भसीन साहब यहां तक कि विभाग के महानिदेशक का पद सौंपने के लिए बुला भेजा पर ये नहीं माने को सूचना एम० एल० सी० के रूप में भी चयनित होने से इन्होंने इन्कार कर दिया।

जहां तक पत्रकारिता का सम्बन्ध है श्री वेद भसीन 1945-47 तक साइंस कालेज की पत्रिका तवी के हिन्दी प्रभाग के सम्पादक के तौर पर सर्वप्रथम हिन्दी पत्रकार के रूप में सामने आए। वे 'रणवीर', 'उषा' आदि उन दिनों की जम्मू की चर्चित पत्रिकाओं में छपते रहे साथ ही श्री वेद गुप्ता और अयोध्यावीर के साथ 'उषा' के कार्यालय में उनके साथ साहित्यिक गोष्ठियों का भी प्रचलन शुरू हुआ।

उन्होंने 1949 में दिल्ली में राजनीति शास्त्र में एम० ए० करने के लिए प्रवेश लिया तो वहीं पर मिलाप तथा विश्वा मित्र नानक समाचार पत्रों में निरन्तर लेखन शुरू किया। इसी बीच हिन्दुस्तान टाईम्स में काम किया और 1950 में जम्मू लौट कर 'नया कश्मीर' का हिन्दी संस्करण निकालना शुरू किया। कुछ देर रेडियो कश्मीर सम्वाददाता के तौर पर भी कार्य किया और फिर यू० पी० आई० तथा 'मिलाप' के साथ भी जुड़े रहे। 1952 में 'नया समाज' नाम से साप्ताहिक उर्दू अखबार निकालना शुरू किया।

अक्तूबर 1955 में कश्मीर टाईम्स साप्ताहिक शुरू किया जिसे दैनिक के तौर पर 1964 में शुरू किया गया। इस बीच श्रीनगर में बख्शी गुलाम मुहम्मद द्वारा प्रकाशित पोस्ट' का भी सम्पादन करते रहे 1963 तक। 1971 में कश्मीर टाईम्ज़ का वर्तमान साईज आरम्भ किया। पत्रकारिता के क्षेत्र में अनेक लोगों को स्थान और प्रोत्साहन दिया और उन्हें ऊंचे सोपानों तक पहुंचने के लिए प्रेरित किया। कहना न होगा कि 'कश्मीर टाईम्स' कश्मीर ने युवा पीढ़ी के लिये पत्रकारिता की नयी दिशाएं आलोकित की हैं।

मील का पत्थर सभी को राह दिखाता है, कितना रास्ता कट गया यह बात बताता है और कितना रास्ता बाकी है चेताता है पर स्वयं वहीं खड़ा रहता है। यद्यपि वेद भसीन 1964 से कश्मीर टाईम्स के सम्पादक के रूप में आज भी सजग हैं परन्तु देश की

आज़ादी के स्वप्न को साकार करने के लिये धधकती क्रांति के जो शहतीर उन्होंने अपने किशोर कंधों पर ढोए थे अब उन्हीं के घावों की पीड़ा महसूस करते हुए वे कुछ असहज हो आये और बोले, 'क्या यही आज़ादी का स्वरूप हमने चाहा था। जहां राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक कहीं पर भी व्यक्ति स्वतन्त्र नहीं है जहां तक कि मानसिक तौर पर भी हम स्वतंत्र नहीं हैं। कहां ग ए वे स्वप्न जिन्हें जयप्रकाश नारायण ने संजोया था। कहां गए वे मूल्य जिनके बीच गांधी ने जन-साधारण के लिए, हम सबके लिए, नेताओं के लिए राजनीतिज्ञों के लिए बोया था। गांधी जी तो चाहते थे कि देश के कर्णधार जनसाधारण की तरह रहें, सादा जीवन व्यतीत करें—पर ऐसा कहां होता है? आज राजनैतिक मूल्यों का आशातीत ह्रास हमारे सामने है। स्वतन्त्रता से पहले इतने कुचक्र नहीं थे। इसीलिए मैंने अपना हाथ राजनीति से खींच लिया है वैसे भी मैं किसी भी तथाकथित तन्त्र के साथ जुड़ना नहीं चाहता। लेकिन मैं मन से मुक्त नहीं हूं मेरी जद्दोजहद जारी है। जारी रहेगी। राष्ट्र उत्थान को लेकर जो स्वयंसेवी संस्थायें, सामाजिक उत्थान और सांस्कृतिक जागरण में लगीं हैं उनके साथ मेरा सहयोग बराबर रहेगा ताकि किसी तरह के भी सामाजिक उत्थान और उसके सही मूल्यों को बनाये रखने में मैं अपना सहयोग दे सकूं। ☐

कहानियां

करामात

□ कर्तारसिंह दुग्गल
अनु. अमित गुप्ता

"......तो फिर बाबा नानक चलते-चलते हसन अबदाल के जङ्गल में जा पहुंचे। गर्मी बहुत थी। चिलचिलाती धूप, जैसे कौवे की आंख निकल रही हो। चारों तरफ सन्नाटा। पत्थर ही पत्थर, रेत ही रेत। झुलसी हुई झाड़ियां, सूखे पेड़। दूर-दूर तक कोई आदमी—न आदमी की जात। कहीं कुछ नजर नहीं आता था।"

"तो फिर मां ?" मैंने ऊंघ भरते हुए कहा।

"बाबा नानक अपने ध्यान में मग्न चलते जा रहे थे कि मरदाने को प्यास लगने लगी। पर वहां पानी कहां! बाबा ने कहा 'मरदाने, थोड़ा और चल, अगले गांव पहुंचते ही जितना चाहे पानी पी लेना। पर मरदाने का प्यास के मारे बुरा हाल हो रहा था। यह सुनकर बाबा नानक सोचने लगे कि इस जंगल में तो दूर तक कहीं पानी नहीं है, पर मरदाना जब हठ करता तो सब के लिये मुश्किल खड़ी कर देता है। बाबा ने फिर समझाया, मरदाने यहां पानी कहीं नहीं है, तू इन्तजार कर और परमात्मा पर विश्वास रख। मरदाना वहीं का वहीं बैठ गया, क्योंकि पानी के बिना अब उससे एक कदम भी नहीं चला जा रहा था। बाबा बड़ी मुसीबत में पड़ गये। वह मरदाने के हठ को देखकर बार-बार मुस्कराते और हैरान होने लगे। आखिर जब बाबा ने देखा कि मरदाना किसी प्रकार भी नहीं मान रहा है तो वह अन्तर्धान हो गये। जब गुरु नानक की आंख खुली तो मरदाना मछली की भांति तड़प रहा था। सत्गुरु उसे देखकर मुस्कराये और कहने लगे, मरदाने इस पहाड़ी के ऊपर एक कुटिया है जिसमें वली कंधारी नाम का एक दरवेश रहता है। अगर तुम उसके पास जाओ तो तुम्हें पानी मिल सकता है। इस इलाके में केवल उसी का कुंआं पानी से भरा है, और कहीं भी पानी नहीं।"

"तो फिर माँ !" मैं उत्तेजित हो रहा था, यह जानने के लिये कि मरदाने को पानी मिलता है या नहीं ।

"मरदाना प्यास से तड़प रहा था, सुनते ही वह पहाड़ी की ओर दौड़ पड़ा । कड़कती धूप, ऊपर से प्यास, पहाड़ी का सफर, हांफते हुए पसीना-पसीना हुआ मरदाना बड़ी मुश्किल से ऊपर पहुंचा । वली कधारी को सलाम करते हुए उसने पानी के लिए विनती की । वली कंधारी ने कुएं की ओर इशारा किया । जब मरदाना कुएं की तरफ जाने लगा तो वली कंधारी के मन में कुछ आया, उसने मरदाने से पूछा, तुम कहां से आए हो ? मरदाने ने कहा—"मैं नानक पीर का साथी हूं । हम चलते-चलते इधर आ पहुंचे हैं । मुझे बड़ी जोरों की प्यास लगी है । नीचे कहीं भी पानी नहीं । बाबे नानक का नाम सुनकर वली कंधारी को बहुत क्रोध आया । उसने मरदाने को अपनी कुटिया से पानी पिए बिना ही बाहर निकाल दिया । थका मांदा मरदाना नीचे बाबा नानक के पास आकर फरियाद करने लगा । बाबा ने उसकी सारी व्यथा सुनी और मुस्कराने लगे । मरदाने तुम एक बार फिर जाओ, बाबा नानक ने मरदाने को सलाह दी और कहा कि इस बार शांत मन से जा । कहना कि मैं नानक दरवेश का साथी हूं । मरदाना अपनी प्यास का मारा हुआ गिरता-पड़ता, सड़ता, कुढ़ता फिर ऊपर गया । पानी वली कंधारी ते फिर भी न दिया । मैं एक काफिर के साथी को पानी की बूंद भी नहीं दूंगा । वली कंधारी ने मरदाने को फिर वैसे का वैसा ही लौटा दिया । इस बार मरदाना जब नीचे आया तो उसका हाल बहुत बुरा था । ऐसा लग रहा था मरदाने के प्राण पखेरू उड़ने ही वाले हैं । बाबा नानक ने इस बार भी पूरी व्यथा सुनी तो मरदाने को 'धन्य निरंकार' कह कर फिर वली के पास जाने के लिए कहा । मरता क्या न करता, बेचारा मरदाना फिर चल पड़ा । उसे लग रहा था कि इस बार उसके प्राण रास्ते में ही निकल जाएंगे । मर्दाना तीसरी बार पहाड़ी की चोटी पर जाकर वली कंधारी के चरणों में गिर पड़ा । क्रोध की आग में जलते हुए फकीर ने उसकी विनती इस बार भी ठुकरा दी । नानक अपने आप को पीर कहलाता है, तो अपने मुरीद को पानी का घूंट नहीं पिला सकता ? वली कंधारी ने बार बार ऐसा ही कहा । मर्दाना इस बार जब नीचे पहुंचा तो प्यास से व्याकुल बाबा नानक के चरणों में गिर कर वेसुध हो गया । गुरु नानक ने मरदाने की पीठ पर हाथ फेरते हुए उसे साहस बंधाया । जब मर्दाने ने आंख खोली तो बाबे ने उसे सामने पड़े एक पत्थर को पीछे हटाने के लिए कहा । जैसे ही मरदाने ने पत्थर पीछे हटाया तो जमीन में से पानी का झरना फूट पड़ा। पानी की नहर बहने लगी । देखते ही देखते चारों तरफ पानी ही पानी हो गया । इतने में वली कंधारी को पानी की जरूरत पड़ी । उसने देखा कि उसके कुएं में पानी की एक बूंद भी नहीं थी । वली कंधारी बहुत हैरान हुआ । नीचे देखा तो पहाड़ी के आंचल में पानी ही पानी था, पानी के चश्में फूटे हुए थे । पर बहुत दूर वली कंधारी ने देखा कि एक बबूल के पेड़ के नीचे बाबा नानक और उसका साथी बैठे हुए थे । गुस्से में आकर वली ने चट्टान के एक टुकड़े को अपने पूरे जोर से ऊपर से नीचे की ओर धकेला । पहाड़ी को इस प्रकार अपनी ओर आते हुए देखकर मरदाना चिल्ला उठा । बाबा नानक ने बड़े धीरज से मरदाने को 'धन्य निरंकार' कहने के लिए कहा । जब पहाड़ी का टुकड़ा बाबा के सिर के पास पहुंचा तो बाबा ने उसे हाथ देकर अपने पंजे से रोक लिया । हसन अबदाल में जिसका नाम आजकल 'पंजा साहिब' है, अभी तक पहाड़ी के टुकड़े पर बाबा नानक का पंजा लगा हुआ है ।"

मुझे यह कहानी बहुत अच्छी लग रही थी। मगर जब मैंने पहाड़ी को हाथ से रोकने वाली बात सुनी तो कहानी का रस फीका लगने लगा। यह कैसे हो सकता है ? कोई आदमी पहाड़ी को किस तरह रोक सकता है ? और पहाड़ी पर अभी तक भी बाबे नानक का पंजा लगा हुआ है। मुझे जरा भी विश्वास नहीं आ रहा था।'' बाद में किसी ने खोद दिया होगा,'' मैं अपनी मां से कितनी देर तक बहस में उलझा रहा। मैं यह तो मान सकता था कि पत्थर के नीचे से पानी फूट पड़े। विज्ञान ने बहुत से तरीके निकाले हैं जिससे जहां भी पानी हो उसका पता लगाया जा सकता है। पर एक इन्सान का ऊपर से आ रही पहाड़ी को रोक लेना, मैं यह नहीं मान सकता था। मैं नहीं मान रहा था तो मेरी मां मेरी तरफ देखकर चुप हो गई।

''कोई लुढ़कती आ रही पहाड़ी को कैसे रोक सकता है ?'' मुझे जब भी इस कहानी का ध्यान आता तो मैं मंद-मंद मुस्करा देता।

कई बार गुरुद्वारे में भी यह कहानी सुनाई गई। पर पहाड़ी को रोकने वाली बात पर मैं हमेशा सिर मार देता। क्योंकि यह बात मैं नहीं मान सकता था।

एक बार यह कहानी मुझे स्कूल में भी सुनाई गई। पहाड़ी को पंजे के साथ रोकने वाले हिस्से पर मैं अपने अध्यापक से बहस करने लग पड़ा।

''करनी वाले लोगों के लिए कोई बात मुश्किल नहीं'', मेरे अध्यापक ने ऐसा कह कर मुझे चुप करवा दिया।

मैं चुप तो हो गया, मगर मुझे विश्वास नहीं आ रहा था। ''आखिर पहाड़ी को कोई कैसे रोक सकता है ?'' मेरा दिल चाहता था में पुकार-पुकार कर चीख-चीख कर यह कहूं।

अभी बहुत दिन नहीं हुए थे कि हमने सुना पंजा साहिब में कोई वारदात हो गयी है। उन दिनों ऐसी भीषण घटनाएं अक्सर हुआ करती थीं। जब भी कोई वारदात होती तो मैं समझ लेता कि आज हमारे घर खाना नहीं बनेगा। रात को ज़मीन पर सोना पड़ेगा। मगर यह 'साका' होता क्या है, यह मुझे नहीं पता था।

हमारा गांव पंजा साहिब' से कोई ज्यादा दूर नहीं था। जब इस 'साके' की खबर आई तो मेरी मां पंजा साहिब चल पड़ी। साथ में मैं और मेरी छोटी बहिन थी। पंजा साहिब के सारे रास्ते में मेरी मां रोतीं रही। हम हैरान थे कि यह 'साका' होता क्या है ?

जब पंजा साहिब पहुंचे तो हमने एक अजीब कहानी सुनी। कहीं दूर एक शहर में फिरंगी ने निहत्थे हिन्दुस्तानियों पर गोली चला कर लोगों को मार दिया था। मरने वालों में नौजवान भी थे, बूढ़े भी थे, औरतें भी थीं और बच्चे भी थे। जो बच गए थे उनको गाड़ी में डाल कर किसी और शहर की जेल में भेजा जा रहा था। कैदी भूखे थे, प्यासे थे। मगर हुक्म यह था कि गाड़ी को रास्ते में कहीं भी रोका न जाए। जब पंजा साहिब में यह खबर पहुंची तो लोग आग बबूला होने लगे। पंजा साहिब जहां गुरु नानक ने खुद मरदाने की प्यास बुझाई थी, उस शहर में से गाड़ी भरी हुई प्यासे लोगों की निकल जाए, भूख से तड़पते लोगों की गाड़ी निकल जाए, मज़लूमों की गाड़ी निकल जाए। यह कैसे हो सकता था। फैसला हुआ कि गाड़ी को रोका जाएगा। स्टेशन मास्टर को अर्जी लिखी गई,

टैलीफोन किए गए। तारें भेजी गईं, मगर फिरंगी का हुक्म था कि गाड़ी रास्ते में कहीं नहीं रोकी जाएगी। गाड़ी में आज़ादी के परवाने, देश भक्त हिन्दू भूखे थे। उनके लिए पानी का कोई प्रबन्ध नहीं था। रोटी का कोई प्रबन्ध नहीं था। गाड़ी ने पंजा साहिब नहीं रुकना था। मगर पंजा साहिब के लोगों का फैसला अटल था कि गाड़ी को जरूर रोक लेना है। नगरवासियों ने स्टेशन पर रोटियों के, खीरों के, पुए के, दाल की देगों के ढेर और पानी के कनस्तर जमा कर दिये।

मगर गाड़ी तो एक आंधी की तरह आएगी और एक तूफान की तरह निकल जाएगी। उसको कैसे रोका जाए?

मेरी मां की सहेली ने मुझे बताया, "उस जगह पटड़ी पर पहले वो लेटे, मेरे बच्चों के पिता। फिर उनके साथ उनके और साथी लेट गए। उनके बाद हम पत्नियां लेटीं। फिर हमारे बच्चे। तो फिर गाड़ी आई चीखती चिंघाड़ती हुई, सीटी मारती हुई। अभी दूर ही थी कि उसकी गति धीमी हो गई। मगर रेल थी उसे रुकते-रुकते रुकना था। मैंने देखा कि पहिए उनकी छाती पर चढ़ गए। फिर उनके साथ वाले साथियों की छाती पर ...तो फिर मैंने आंखें बंद कर लीं। जब मैंने आंखें खोलीं तो गाड़ी मेरे सिर पर खड़ी थी। मेरे साथ धड़कते हुए सीनों में से 'धन्य निरंकार', 'धन्य निरंकार' की आवाजें आ रही थीं। मेरे देखते-देखते गाड़ी मुड़ गई। गाड़ी मुड़ी तो पहियों के नीचे आये शवों के चीथड़े बिखर गये। टुकड़े हो गए..."।

मैंने अपनी आंखों से खून की नदी देखी। जो बहते-बहते कितनी दूर पक्के बने नाले के पुल तक पहुंच गई थी।

मैं हैरान परेशान था। मुझ से एक शब्द भी न बोला गया। सारा दिन मैंने पानी का एक घूंट नहीं पिया।

शाम को जब हम वापिस आ रहे थे, रास्ते में मेरी मां ने मेरी छोटी बहिन को पंजा साहिब की कहानी सुनानी शुरू कर दी। कैसे बाबा नानक मरदाने के साथ इस तरफ आए। मरदाने को प्यास लगी। कैसे बाबे ने वली कंधारी के पास मरदाने को पानी के लिए भेजा। कैसे बाबा नानक ने मरदाने को एक पत्थर उठाने के लिए कहा। कैसे नीचे से पानी का चश्मा फूट पड़ा। वली कंधारी के कुएं का पानी सारे का सारा नीचे आ गया। फिर कैसे गुस्से में वली कंधारी ने ऊपर से पहाड़ी का एक टुकड़ा धकेला। कैसे मरदाना घबराया। और बाबा नानक ने 'धन्य निरंकार' कह कर अपने हाथ से पहाड़ के टुकड़े को रोक लिया।

"मगर पहाड़ को कैसे कोई रोक सकता है?" मेरी छोटी बहन ने सुनते ही झट से मां को टोक दिया।

"क्यों नहीं रोक सकता?" मैं बीच में ही टोक कर बोल पड़ा, "आंधी की तरह उड़ती हुई ट्रेन को अगर रोका जा सकता है तो पहाड़ के टुकड़े को क्यों नहीं कोई रोक सकता?"

तो फिर मेरी आंखों में से छम-छम आंसू बहने लगे, 'करनी वाले' उन लोगों के लिए जिन्होंने अपनी जान पर खेल कर न रुकने वाली ट्रेन को रोक लिया था। और अपने भूखे देशवासियों को रोटी खिलाई थी, पानी पहुंचाया था। □

आज़ादी के लायक जगह

□ विनोद शाही

सरहद पार वाले भाईजान जेल से भाग छूटे थे।

वैसे यह कहना वाजिब होगा कि उन्हें जेल से भगा लिया गया था। यह एक बड़ी साजिश के तहत हुआ था। न...न इस वक्त आप पक्के सबूतों की मांग न ही करें तो बेहतर। आम तौर पर हर साज़िश हम तक सुने सुनाए तौर पर ही पहुंचा करती है। आप चाहें तो उस पर यकीन करें और चाहें उस पर ज़रा सी हैरानी ज़ाहिर कर सदा के लिये उसे भुला दें। सरहद पार की बातों की नज़ाकत समझते हुए ये दूसरी तरह की भंगिमा बड़ी समझदारी की बात लगती है।

जहां तक साज़िश का ताल्लुक है भाई जान का उसमें कतई कोई हाथ नहीं था। वे आलमी शतरंज की किसी गहरी चाल में अचानक संयोग से ही एक मुहरा बन गये थे। बात इतनी गहरी थी कि मोहरा बनते वक्त या उससे बाहर आते वक्त भी भाईजान को कभी इस बात का अहसास तक नहीं हुआ।

भाईजान की सज़ा लम्बी थी। एक कत्ल के मुजरिम की फांसी की सज़ा को रहम की दरख्वास्त पर गौर करने की वजह से उम्र कैद में बदल दिया गया था। अब जेल की सलाखें उनके घर का दरवाजा थीं और झड़ती कलई की वजह से रोज़ नये रंग पकडता लेंटर उनका आकाश। शाम को जेल के कमरे के बाहर उगे पेड़ पर से वे हज़ारों पंछियों की आवाज़ों को भीतर आता सुनते तो उन्हें लगता जैसे कोई सपना शुरू हो गया है। सिर्फ सपनों में ही किसी के पास पंख होते हैं और वह नींद की खुमारी के बादल पर सवार होकर ही परवाज़ करने में कामयाब होता है। सीलन भरे अंधेरे में अकड़ी हुई पीठ का भार ढोते भाईजान, लगता था कि भागना तक भूल गये होंगे। और तभी एक दिन कोई अजनबी मुलाकाती उनके कान में आकर जैसे कोई आग सी फुसफुसा गया—

— काम मुश्किल है। जान का खतरा है। पर जिसे तुम जी रहे हो वो भी क्या

कोई ज़िंदगी है ? हो सकता है बच कर निकल ही जाओ। सुना है सरहद के पार अभी तक तुम्हारी कोई रिश्तेदारी है। तुम्हें वहां पनाह मिल जाएगी। हम तुम्हें यहां से भागने में मदद कर देंगे। तुम्हें भागने के बाद हथियारों की एक खेप सरहद पार ले जानी होगी। इस के बाद तुम आज़ाद हो। वैसे पैसा कमाना चाहो तो ये काम तुम बाद में भी करते रह सकते हो। पर तुम्हारी वफ़ादारी और हिम्मत को जांचने के बाद ही हम तुम से दोबारा कांटेक्ट करेंगे। या हो सकता है न भी करें। खुदा हाफिज़ !

हो सकता है यह कहानी एकदम गलत हो। भाईजान ने अपने आप को झूठा या सच्चा या अहम साबित करने के लिये इसे घड़ लिया हो। बात जो भी हो, एक बात सही है कि उनके सामने एक ही मकसद था, किसी तरह जेल से बाहर आकर आज़ादी की एक भरपूर सांस ले सकना। ये हथियारों वाली या ऐसे ही किसी दूसरे मकसद वाली बात उनके लिये गौण थी—महज़ एक बहाना। यह सही था कि गलत, इस बाबत भी कभी उन्होंने कम से कम उस वक्त कोई गौर नहीं किया था। बस वे पंछियों की, सूरज की, अपनी मर्जी से घूमते फिरते लोगों की दुनिया में लौटना भर चाहते थे और इसके सिवाय उनके सामने और कोई रास्ता खुला ही नहीं था।

जेल से भागना और हथियार लेकर सरहद के इस पार आ जाना इतनी आसानी से हो गया था कि खतरे वाली बात उन्हें एक उड़ाई गयी अफ़वाह भर लगी थी। लेकिन बाद में वे जब हथियार किसी को सौंप कर अपने काम से सुर्खरू हो गये तो अचानक इतनी बड़ी दुनिया में अपनी आज़ादी को लेकर वे घबरा गये। जेल में सब तय था, खाने पीने से लेकर सोने और खास तरह के सपने देखने तक। और यहां सब तरफ कुछ अजाना और अनिश्चित था। उनका सर घूमने लग गया। उन्होंने मन को समझाने की कोशिश की कि कोई बात नहीं, सब ठीक हो जाएगा आखिरकार ये उनके पुरखों का ही तो मुल्क था। एक दो पीढ़ियों में कितना बदल गया होगा। उन्होंने अपने दादाजान से इस मुल्क की बाबत बहुत सी कहानियां सुनीं थीं। रात को गन्ने के खेतों की रखवाली करते हुए उनका चूहे मारने में चीलों सा झपटने का खेल और पोखर में नहाती भैंसों के संग उनका खुद भी कीचड़ में उतर कर अपने साथ जिस्म पर चिपकी जोंके ले आने का प्रसंग। वे इस मुल्क की बाबत सब कुछ जानते थे, यहां की नस-नस से वाकिफ थे वे—फिर डरने की क्या बात थी—लेकिन डर था कि बढता जाता था। उनके पुरखों ने उन्हें जो कुछ भी बताया था वह तो कहीं भी, किसी भी मुल्क में कभी भी हो सकता था। फिर ऐसा क्यों था कि इन बातों को याद करते वक्त वे अकसर इस मुल्क की बाबत इतने भावुक हो जाते थे—भाईजान ने सोचा कि अपने डर से निजात पाने के लिये उन्हें इस मुल्क में रहते आए अपने दूरदराज के रिश्तेदारों से मिलना ही होगा।

अपने पुरखों के गांव, घर की तरफ वे चल ज़रूर दिये, पर अब उन्हें उनके उसी पछतावे ने घेर लिया था जिसे कैदखाने में होने की वजह से वे लगभग भले हो गये थे। जेल उन्हें उनके इस पछतावे से निजात दिलाने की अचूक दवा जैसी थी। सज़ा पछतावे का ही एक विकल्प हुआ करती है। लेकिन गांव घर की तरफ यात्रा करते हुए उन्हें अहसास होने लग पड़ा था कि वो सज़ा उसी पछतावे के दंश के मुकाबले कितनी आसान थी। वे

उम्र कैद भुगत लेते तो आसानी से हमेशा के लिये अपने पछतावे से आज़ाद हो जाते। अचानक उनके मन में यह ख्याल भी आया कि कहीं यहां गांव वालों को उस बात का पता न चल गया हो। वैसे इस बात की उम्मीद लगभग न के बराबर थी। उन्होंने अपने किसी जान पहचान के किसी दूर दराज के आदमी को भी कभी इस दौरान इस मुल्क में दाखिल होते नहीं सुना था, फिर वो खबर वहां कौन पहुंचाता, पर मन का चोर हर दुर्घटना की सम्भावना को ज़िंदा रखता है ताकि मौका आते ही उससे निपटा जा सके। अगर इधर गांव वालों को ये पता हुआ कि उसी की वजह से उनके खानदान के सरहद पार वाले उस एकमात्र चिराग को बुझना पड़ गया था, तो वे उसके साथ जाने कैसा सलूक करें।—पर ये भी तो हो सकता था कि अगर वह उन्हें सच्ची कहानी सुनाए और उन्हें उन पर यकीन आ जाए। कानून को इन्सानी बातों से अब कोई खास लेना देना नहीं रह गया है। वह फर्क नहीं कर पाता कि जुर्म वाकई सोचे समझे तरीके से किया गया है या अचानक संयोग से घट गया है, जिसमें किसी का कोई दोष ही नहीं है। लोग आदमी को देखभाल कर यकीन ही नहीं करते, उन्हें ठीक से जानते भी होते हैं कि वे वैसा कर सकते हैं या नहीं और आम तौर पर वे सही होते हैं। कानून के लिये सही हो सकने की संभावनाएं लगातार कम होती जा रही हैं। भाईजान सोच रहे थे कि वे गांव वालों के सामने अपने बेकसूर होने की बात का बयान करेंगे। उन्हें बताएंगे कि कैसे उनके वे दूर के मौसेरे भाई उनसे मिलने आए और उसी दिन हुई किसी सूफी फकीर से अपने रूबरू होने की घटना की गर्मजोशी से बयान करने लगे। उन्होंने बताया था कि कैसे आज उनके और अल्लाह के दरम्यान बस एक अंगुल भर का फासला रह गया था। वह फकीर शायद सिरफिरा था। जब उनके मौसेरे भाई ने उससे पूछा कि क्या वो उसे अल्लाह के दर्शन करा सकता है तो उसने उनके एक ज़ोरदार थप्पड़ रसीद कर दिया। लेकिन इससे हुआ ये कि उन्हें जाने कैसे अल्लाह के करीब-करीब दर्शन ही हो गये। ये बात उन तक ज़रा देर से खुली क्योंकि ये बात बताने से पहले ही उन्होंने उनके ये पूछने पर कि अगर उन्हें अल्लाह के दर्शन नसीब हुए हैं तो वे भी तलबगार है—उन्होंने पहले उस फकीर की तरह ही उनके एक जोरदार झापड़ रसीद किया और तब वह बात बताई। वे तब जवान थे। खून खौल गया। ये क्या मज़ाक हुआ। जो हर एक फकीर को हो सकता है, एक आम आदमी को कैसे दिया जा सकता है। शायद बात मज़ाक की थी, पर जब मौसेरे भाई मुड़े, गुस्से में उन्होंने भी एक ज़ोरदार मुक्का उनके सिर के निचले हिस्से में दे मारा—। अब फिर अल्लाह के दर्शन कर, और करीब से...लेकिन ये क्या, शायद मुक्का सिर के ऐसे हिस्से में लगा था कि वे अचानक त्यौरा कर गिरे और देखते ही देखते अल्लाह को प्यारे हो गये। पर क्या कोई यकीन कर पाएगा कि उस दिन बस यही हुआ था, और कुछ नहीं। नहीं, वे अपनी असलीयत किसी को नहीं बताएंगे। कह देंगे कि वे उसके दोस्तों में से ही कोई एक हैं।

भाईजान गांव पहुंचे तो उन्हें अपने रिश्तेदारों में से कोई वहां न मिला। पता चला कि पीछे कुछ अर्से से सरहद पार से कुछ हथियारबंद लोग इधर आकर खासी अशांति का माहोल पैदा कर रहे थे, लोगों की जानमाल को बहुत खतरा हो गया था, इसलिए वे जमीन जायदाद बेच कर जाने कहां चले गये थे। शायद उनके खानदान में से ही किसी की हत्या भी कर दी गयी थी। भाईजान को ये सब जान कर गहरा सदमा पहुंचा। उनका

पश्चाताप और बढ़ गया। कहीं ये सब उन्हीं हथियारों की बदौलत तो नहीं हुआ जिन्हें सरहद के इस पार उन्होंने खुद अपने हाथों से पहुंचाया था। पहले उनके खानदान को एक सरहद ने बिखेर दिया था और अब सरहद के नाम पर की जा रही कोई बड़ी आलमी साजिश उन्हें मोहरा बना कर नचा रही थी। गुनाह कोई और कर रहे थे, पर गुनाहगार वे खुद कहला रहे थे और पछतावे के बोझ से इतना दबने चले जा रहे थे कि सीधे खड़े होना और हकीकत से संजीदगी से आंख तक मिलाना उनके बस की बात नहीं रह गयी थी।

अपने इधर के गांव घर की घटनाओं को जानते ही अचानक उन्हें एक और अहसास भी हुआ। उन्हें लगा जैसे वो फकीर, जिसका चेहरा तक उन्होंने नहीं देखा था, अचानक आकर उनके सामने खड़ा हो गया था और तब उसने उनके साथ भी वही सलूक किया। एक जोरदार झापड़ खाकर उनका चेहरा सुन्न हो गया। आंखों से पानी निकल आया। सोचने समझने की ताकत जाती रही और वे वाकई अल्लाह से बस एक अंगुल दूर रह गये। बेहोशी टूटी तो उन्होंने खुद को गांव वालों से घिरा पाया। पर अब वे किसी को भी बिना कुछ बताए अजनबियों की तरह उठ कर दोबारा सरहद की तरफ चल दिये।

भाईजान अभी नो मैन्ज लैंड तक पहुंचे ही थे कि एक और से कई आवाजें एक साथ गरजीं—हाल्ट! रुक जाओ, नहीं तो गोली मार देंगे। वे रुक गये, मगर घूम कर नहीं देखा कि कौन आ रहा था। कोई फर्क नहीं पड़ता, चाहे जो हो। आज उन्हें मौत से कोई डर नहीं लग रहा था।

—कौन है?...कहां जा रहा है? बोलता क्यों नहीं।

—मैं सरहद के उस पार की जेल से भागा हुआ एक कैदी हूं।

—तो दोबारा उधर क्या करने जा रहा है, फिर से जेल जाने का इरादा है क्या?

—जेल मेरा घर है। इधर की हो या उधर की, कोई फर्क नहीं पड़ता।

—कोई हार्ड कोर लगता है...पर हमें देख कर भागा क्यों नहीं, तेरे पास पूरा मौका था, फिर भी...

—कहां जाता भाग कर। इस सरहद की वजह से ये दोनों मुल्क खुद दो बड़े-बड़े जेलखानों में तबदील हो गये हैं। मेरी मानो तो मुझे यहीं रहने दो। सुना है ये नो मैन्ज लैंड है। बस यही एक जगह है जो सचमुच आजाद है। मैं कुछ देर आजादी का स्वाद लेना चाहता हूं।

—लगता है कोई पागल है।

फौजी लोग भाईजान की बाबत कोई फैसला नहीं कर पा रहे थे। आखिर उन्होंने उनके पर्टीकुलर्ज लेकर पार खबर कर दी कि उनकी जेल से भागा हुआ एक कैदी उन्होंने गिरफ्तार कर लिया है। लेकिन शाम होते-होते खबर आ गयी कि जेल से भागा हुआ अमुक कैदी तो उनकी फौज के हाथों उस वक्त मार डाला गया था, जब वो हथियारों को सरहद पार करने की कोशिश कर रहा था। उसके मरने के बाद उधर की सरकार ने उसकी ज़िंदगी की फाइल बंद कर दी थी, इसलिये अब उन्हें उस आदमी में कोई दिलचस्पी नहीं थी।

इस इत्तिलाह के बाद ये तय हो गया था कि भाईजान की शक्ल में जो शख्स वहां बैठा था, वो जेल से फरार मुजरिम नहीं, कोई पागल था या कोई फकीर। ऐसे आदमी को पकड़ कर रखने का कोई मतलब नहीं था। उन्हें रिहा कर दिया गया तो उन्होंने पूछा कि अब वो कहां जाएं। सरहद के इस पार या उस पार। अब वो किसी मुल्क के नागरिक नहीं थे, तो कहां जाते। फौजियों को उनके ऐसे बेतुके सवालों में कोई दिलचस्पी नहीं थी। उन्होंने कहा, चाहे जहां चले जाओ।

भाईजान ने उन्हें आज़माने की नीयत से पहले एक दफा इधर से उधर जाने का काम किया, फिर उधर से इधर आ गये। पर किसी ने उन्हें कुछ नहीं कहा। किसी ने उन पर कोई गोली नहीं चलाई। उन्होंने पूछा,

—मुझे मारते क्यों नहीं हो तुम लोग, तो वे हंसने लगे—अल्लाह के बंदों को भी कभी कोई मारता है।

भाईजान कोई अल्लाह के बंदे नहीं थे, उनकी तो एक ही समस्या थी कि वे वहां से किधर जाते, मगर वहां कोई उनकी कोई मदद करने को तैयार नहीं था। ☐

लघुकथा

इन्तजार

☐ कमलेश भारतीय

क्या कोई ऐसा दिन नहीं आयेगा जो और दिनों से अलग हो? जिसे मैं बरसों याद रख सकूं किसी सुन्दर कविता की तरह, जिसे मैं गुनगुना सकूं—किसी मधुर लोकगीत की तरह, जिसे मैं दुहरा सकूं—किसी दिलचस्प किस्से की तरह, जिसे मैं सुना सकूं अपने बच्चों को ताकि वे आनी वाली नस्लों को सुनायें इतिहास की तरह एक ऐसे दिन का इन्तज़ार मैं बिस्तर पर लेटा ऐसे दिन का इन्तज़ार कर रहा था, रोज की तरह, एक लम्बा इन्तज़ार जो दिन के उगते ही जन्म लेता है और रात के गहरे अन्धेरे में डूब जाता है, दिन तो नहीं आया, पत्नी जरूर हाजिर हो गई।

—ये दालें-वालें रोज़-रोज़ नहीं खाई जातीं, सुनते हो? हम बीमार नहीं है, घर अस्पताल नहीं है, किसी नई सब्ज़ी के दर्शन तो कराओ।

—मिट्टी का तेल ले आते, बरसात है, गैस खत्म है। खप गई मैं तो...

—चीनी भी आज मुश्किल से आज के लिए है, आसमान छू रही है पर चीनी बगैर काम चल सकता तो मैं कभी न कहती, दूध वाला सवेरे जवाब दे गया है।

—बिजली-पानी के बिल आये हैं, सरकार रेट बढ़ा रही है, टैक्स लगा रही है। —क्या 'हूं' 'हूं' लगा रखी है? बन्दोबस्त करो।

नीचे से पुकार मचती है बहू के नाम और वह किसी सम्भावित काम का बोझ लादे चिड़चिड़ाती सीढ़ियां उतर जाती हैं ..दिन...नहीं आया...बन्दोबस्त करो...बन्दोबस्त करो कमरे में गूंजने लगता है। यदि यही हाल रहा तो कोई दूसरा बन्दोबस्त करना ही पड़ेगा। दिन का इन्तजार और बन्दोबस्त करना एक ही बात है। अच्छे दिनों का इन्तज़ार नहीं किया जाता, बन्दोबस्त किया जाता है। ☐

अभी मैं ज़िंदा हूं

□ जिन्दर

अनु० डॉ० तरसेम गुजराल

नियुक्ति तो मेरी बोर्ड ने की थी। सात सदस्यों के बोर्ड ने। बिल्कुल नहीं। सिफारिश का तो सवाल ही पैदा नहीं होता। ...न...बिना रिश्वत के। लगभग पन्द्ररह कैंडीडेट थे। दो चुने गए थे। मैरिट बेस पर। मैं और सुरिन्द्र सपेरा पहले और दूसरे नंबर पर आए थे। महीने बाद नियुक्ति पत्र मिल गया था। अथाह खुशी हुई थी मुझे। लगा था मुझे जैसे लम्बी भटकन के दिन दूर हो गये थे। अब अगला रास्ता आसान होगा। शांत। आहिल। बिल्कुल सीधा। कभी मेरी तमन्ना होती थी बैंक में नोकरी करने की। पूरी हो गई। बीच बीच में ऐसा लगता था जैसे मेरे पंख लग गये हों और मैं उड़ सकती हूं आजाद! जहां जी चाहे बिना किसी बन्दिश के। आगे चमकता काउंटर होगा। बाउचरों का ढेर। लाल, पीले, नीले और सफेद। बड़े बड़े रजिस्टर। सफेद वर्दी पहने। साफ सुथरा वातावरण और 'मैंडम मैंडम' कहते कस्टमर। पापा जी खुश थे। माता जी तो बार-बार अपने अलिंगन में ले लेतीं। ऐसा लगता था जैसे मेरे भविष्य की लाटरी निकल आई हो। बीच बीच में लगता था जैसे मेरा जिस्म हलका फूल हो गया हो। मन में कितने ही उल्टे सीधे विचार आते यह करूगी... वह करूंगी...मैं ..मैं...मैं।

समय तो इस तरह लगता था जैसे रुक गया हो। मैं थी या नियुक्ति पत्र। रजिस्टर्ड लैटर खोलते ही मैं जितने ऊंचे स्वर में कह सकती थी कह दिया था—बीबी जी—मुझे नोकरी मिल गई। अपने ही शहर में। वह तो दौड़ कर पापा को बताने चले गये थे और मैं बार-बार नियुक्ति पत्र पढ़ रही थी। हर बार एक अक्स उभरता रहा बैंक का। मुझे तो पता नहीं चल रहा था कि क्या हो गया। मन हो रहा था दौड़ पड़ूं। दौड़ती चली जाऊं। रात हो गई थी परन्तु मेरी सोच नई नवेली थी। चढ़ते सूरज जैसी। नहीं यह बात नहीं। सीधे ही मैं मैनेजर साहिब के केबिन में चली गई थी। बिना किसी और को मिले। शायद

इसलिए कि उस समय वह अकेले बैठें थे। गर्दन झुकाये, रजिस्टर पर साईन करते हुए। रजिस्टर्ड लिफाफा उनके सामने रख दिया था। बेरूखी से उन्होंने मेरी तरफ देखा। लिफाफे में से पत्र निकाल कर देखते हुए तुनके माथे पर त्यौरियों का जाल फैलने लगा था। ऐनक उतारकर उन्होंने शीशे पर रख दी थी। रूमाल से पहले आंखें और फिर ऐनक के शीशे साफ किए। मेरी ओर देखा। फिर पत्र देखा और मेरी ओर सरका दिया। मुंह से कुछ नहीं कहा। फिर रजिस्टर के पन्ने उलटते रहे। कुछ नहीं कहा। इस तरह जैसे उनका कोई सरोकार ही न हो। मैं खड़ी रही हैरान। पन्द्रह मिनट बीत गये ..परन्तु उन्होंने न तो नजर उठाई न मेरी ओर देखा। लगता था जैसे उनकी घबराहट किसी समय भी फट कर बाहर आ जायेगी। 'सर' मैंने कहा। तब वह बोले—"'तुम यहीं हो अभी" "जी" मैंने कहा। 'बाहर बैठो जाकर अभी तुम्हें बुलाऊँगा'। अजीब सी खीझ थी उनकी आवाज में। एक तरफ पड़े सोफे पर मैं बैठ गई। आम कस्टमरों की तरह। लोग आते रहे। मैं देखती रही। सुनती रही। कुलबुल कुलबुल से उकता गई। भयानक विचारों में भटकती रही। बीच बीच में लगा जैसे पहले दिन ही मुझे बर्फीले हिमालय पर बैठा दिया गया था। आखिर मैं क्या कर सकती थी। दो एक बार चपरासी भी मेरे पास आया। फिर उसने पूछ ही लिया—मैडम जी क्या बात है? आपका काम अभी नहीं हुआ? कोई ड्राफ्ट बनवाना है या एफ. डी. करवानी है। मुझे बताओ। कहीं गवाही की जरूरत तो नहीं? मैंने जवाब में मैनेजर साहब के केबिन की ओर इशारा कर दिया। यही हाल गेट पर खड़े सिक्योरिटी गार्ड का था। चोर आंख से वह मेरी ओर देख लेता था। मूंछों में ही हँसता था। घड़ी देखी तो बारह बजने में दस मिनट ही रहते थे। थोड़ा संभल कर मैं फिर मैनेजर के कमरे में चली गई। "मुझे ड्यूटी दी जाये।" मैंने बेझिझक कहा। "बैठो।" मैं बैठ गई। दस मिनट बाद पूछा 'तुम्हारी क्वालीफिकेशन?' फिर कुछ ऐसे सी सवाल जिनका नियुक्ति से कोई संबन्ध न था। खैर मेरे बॉस थे। मेरा पहला दिन था। एक बजे मुझे ड्यूटी मिल गयी थी। ब्याज लगाने का रजिस्टर चपरासी ने आगे फेंक दिया था। साथ ही संदेश मिल गया था आउट पुट चाहिए। मैं हँस दी। पहला दिन, आउट पुट कैसा? कितनी? क्या यह काम करने का पैमाना है? निवेदन किया कि कम से कम कुछ दिन की ट्रेनिंग दी जाये। जवाब मिला "क्वालीफिकेशन तो बहुत है!" मैंने भी सख्ती से जवाब दिया—"आखिर एक्सपीरयेंस भी कोई चीज है।" परन्तु किसी ने एक न सुनी। सभी अपने काम में निमग्न थे। कुछ सूझ नहीं रहा था। अजब दुविधा थी। पैन उँगलियों में दबाये माथे पर हाथ रखे, रजिस्टर खोल कर बैठी थी। समझ कुछ नहीं आ रहा था। बस रकमें थी। जैसे बोर्ड पर लिख दी हों और समझाने वाला कोई न हो। दायीं तरफ से कुलीग से पूछा। उसने 'हाँ हूँ' से ज्यादा कुछ नहीं कहा। भाई साहिब प्लीज "दोबारा मैंने कहा तो उसने जवाब दिया 'माइंड योर ओन बिजनेस, डोंट डिस्टर्ब मी...आई हैव ऐ लॉट आफ वर्क टू डू। एंड यू नो परापरली देट इट इज ए बैंक।' कहने को वह कह गया परन्तु मुझे लगा कि जैसे वह नहीं उसके अंदर से कुछ और बोल रहा था। भयग्रस्त। तभी तो उसकी जुबान थिरक गई थी।

उसने इर्द गिर्द नज़र घुमायी। कहीं कोई और इसका गलत अर्थ न निकाले। परन्तु उसके हाथ कांप रहे थे और बार बार कटिंग कर रहा था। बायीं तरफ वाले को पूछा तो उसने टाल दिया। हार मान लेना मेरे हिस्से में कभी नहीं आया। कोशिश जारी रखी

रजिस्टर के पन्ने दोबारा देखने लगी तो कुछ कुछ पल्ले पड़ा। चार बजते बजते मैंने फार्मूला समझ लिया। जरूरत मुताबिक। आखिर दिन तो बीतना ही था। बीत गया। पाँच बजे। बीस लोगों का स्टाफ था। तीन लोग रह गए थे। में, सुरिन्द्र और हरबंस। बाकी लोगों ने चार बजे जाना शुरू कर दिया था। भारी मन से कुर्सी से उठी रिक्शा लिया और घर...। बीबी जी दरवाजे पर इंतजार कर रहे थे। उतरा चेहरा देख कर कहा— बेटी ठीक तो हो बिना जवाब दिये मैं बैड पर औंधी जा गिरी। मानसिक थकावट चरम सीमा पर थी। चाहती थी मेरे पास कोई न हो। बिल्कुल अकेली रहूं। बीबी जी चाय लेकर आ गये। पूछा आखिर क्या बात है, बताती क्यों नहीं। जब बताया तो कहा 'पागल हो ?' अजनबी लोग... अजनबी माहौल कुछ वक्त बाद सभी कुछ ठीक हो जायेगा। फिर तुम्हें कुछ भी अजनबी नहीं लगेगा। और कितनी लड़कियां हैं वहां अकेली होती तो मुश्किल होती। दो ग्यारह तो तीन तैंतीस।' मुझे बात जँच गई। हो सकता है कि पहले पहल झिझक भी हो... मैंने सोचा।

परन्तु मेरी बेचैनी कम नहीं हुई। पता नहीं क्यों आज पाठ करने का भी मन नहीं हुआ। पहले मैं मंदिर की घंटी सुनते ही गीता पढ़ने बैठ जाती मन की शांति के लिए। पर अशांत मन ने अशांति बढ़ा दी थी। मन मजबूत कर मंदिर गई परन्तु तुरंत लौट आई। पत्रिका के पन्ने उलटाती रही नींद हर पल पल्ला छुड़ाती रही। करवटें बदलते रही। फुल सपीड पर पंखा भी ठंडक नहीं, तपिश पैदा कर रहा था। दो तरह की तपिश का जैसे सामंजस्य हो रहा था।

ठीक वैसा ही हुआ, दूसरे दिन मेरी सीट बदल ही गई। डयूटी कैश पर लगी पूछने पर जवाब मिला। "कैशियर छुट्टी पर गया है। एक हफ्ते के लिए" कैबिन का दरवाजा खोल कर सीट पर जा बैठी। हर पल सोच में गुजरा। दोपहर बाद कैश टैली किया। ठीक था।

नहीं इस तरह नहीं। भद्दे मजाक तो कई बार होते रहे थे कुलीग्ज की ओर से इस कान से सुनना उस कान से निकाल देना मेरी नीति रही थी। हँस कर बात टाल देती। मजाक तो आते ही शुरू हो जाते। कोई कहता आ गई मेनका कोई कहता पहले से मोटी हो गई है। बैंक का पानी लग गया है। 'कुछ की नज़रें मेरी देह के आर पार हो जाती।' यह मेरे लिए कोई नई नहीं थी। कालिज जाते जाते भी कई बार ऐसा होता रहते। बेसिर पैर। गर्दन झुकाये घर से जाती और गर्दन झुकाये लौट आती परन्तु यहाँ तो सुलझे हुए लोग थे वैल कवालीफाइड...। उस दिन तो कमाल हो गया। मैं कभी सोच भी नहीं सकती थी कि ऐसा भी होगा। मैं कांप गई थी परन्तु चुप रही। मैनेजर साहब से शिकायत की। जवाब था 'इट इज योर पर्सनल अफेयर।'

औरत थी। चुप रही। कहावत याद रखी। एक चुप सो सुख। परन्तु मेरी चुप ने उनके हौसले बढ़ा दिये। पहले मजाक करते हुए आगा पीछा देख लेते परन्तु अब तो कस्टमर की भी परवाह नहीं करते। बजाज ने मेरे रास्ते में टांग अड़ा दी साथ ही मजाक किया किसी

अनपढ़ से भी भद्दा। घूर कर उसकी ओर देखा सीट पर जाकर बैठ गई। अपने आप से सवाल जवाब करने लगी।

छुट्टी के बाद थाने गई। अजीब माहौल था वहां भी। गेट से ही नजरें मेरा पीछा करने लगी। कमरे तक जाते उन आंखों की गिनती में बढ़ोतरी होती गई।

सिपाही ने रूखी आवाज में पूछा—लड़की, किस से मिलना है। मैंने कहा, 'एस. एच. ओ. साहिब को।' वह कुछ विनम्र हुआ और कहा 'सामने बैठे हैं पीपल के नीचे।' ऐसा लगा जैसे एस. एच. ओ. नहीं, कोई मुगल बादशाह हो और आस पास कई फरियादी खड़े हो। एक तरफ बैठ गई तो उन्होंने पूछा, 'क्या बात है लड़की जल्दी आकर बताओ इन सब की बाद में सुनूंगा।' शायद मेरे कपड़ों और व्यक्तित्व का मूल्यांकन कर लिया था।

उनकी ओर देखा तो डर सा लगा। मोटी-मोटी आखें नशे में डूबी सारी बात सुनकर टालमटोल की। "अच्छा नहीं लगता हमारे लिए यह पहला केस है आपके कुलीग है अपने आप हट जाएंगे।' किसी को साथ लेकर समझौता कर लो। मैंने पूछा कैसा समझौता। उन्होंने समझाया कि आखिर समझौता ही होता है। मैंने कहा बाद की बात है रिपोर्ट दर्ज करें। उसने कहा 'तुम घर जाओ बहुत भला आदमी है।' मैं खुद बैंक जाऊंगा। सुबह मेरे आने से पहले पुलिस बैंक में थी। सरसरी नजर डालकर मैं अपनी सीट पर जाकर बैठ गई। खुसर-फुसर बराबर चलती रही। चपरासी मुझे बुलाने आया था। गई तो कहा गया—यह तुमने अच्छा नहीं किया। सारे ही कुलीग हैं। यह क्या बात हुई, छोटी-छोटी बात पर रिपोर्ट। यह तो बच्चों की बात है। मैंने पूछा—बच्चों वाली बात मैंने की या उन्होंने? जवाब मिला—चलो यदि उन्होंने गलती की है तो तुम न करती। एस. एच. ओ. ने कहा, "लड़की, जाट तो लड़ते हुए देखे हैं परन्तु पढ़े-लिखे नहीं—अच्छी बात यह है कि बहन भाइयों की तरह रहो और फिर मैनेजर साहिब तो बड़े महापुरुष हैं।" वह समझाते रहे, मैं हूं हां करती रही! अन्त में कहा, "सयाने बनो तमाशा देखने का क्या फायदा।"

इस बात को हफ्ता हुआ होगा। माहौल पहले जैसा हो गया। मेरे विरुद्ध तंग करने की साजिश रची गई मैं सोचती—मेरा कसूर क्या है, मैंने इनका क्या बिगाड़ा है। मैं सभी की बात नम्रता से सुनती। बीच की बात का पता न चलता।

गुरबक्श ने पूरी बात सुनाई तो सुनकर सुन्न रह गई। डर से कहा था—मैडम किसी को पता न चले। मुझे असल बात पता चल गई थी। मैंने जाकर बीबी को बताया। मेरी जगह मैनेजर साहब अपना लड़का रखवाना चाहते थे बात बनी नहीं। कम अंकों की वजह से। सभी ने पालिसी बना ली—तंग करो अपने आप चली जायेगी। 'अच्छा बेटी कह कर मां चुप हो गई' फिर कहा "ऐसा भी हो जाता है।" "हो जाता है नहीं है हो गया..." "आदमी का धर्म क्या रह जाता है तब?" "धर्म अब कहां की बात रह गई?" "नहीं बेटी धर्म के आसरे तो आदमी जीता है" "तो मैं जो कह रही हूं वह झूठ?" मां गर्दन झुकाये मुंह में कुछ कहती रही।

मेरी सोच लम्बी होती चली गई जी चाहता नौकरी छोड़ दूं । फिर विचार बदल जाता । छोड़ दूं तो सीधी हार होगी । सोचती रही लगातार, शायद इसलिए मैं बीमार पड़ गई । मैडिकल छुट्टी ली तो आठवें दिन सन्देश मिला कि तुम्हें कहा था कि बैंक कर्मचारियों के खिलाफ दर्ज करवाई रिपोर्ट वापिस लो । आज तक तुमने रिपोर्ट वापिस नहीं ली । तुम्हें अन्तिम बार सूचित किया जाता है कि जल्द केस वापिस लो नहीं तो विभागी कार्यवाही होगी । बीमार थी बहुत ज्यादा । क्या कर सकती थी ? यह सीधी धमकी थी अड़ी रही अपनी जगह...रिपोर्ट मैं फिर लिखवाने गई । इस बार भी पहले टालने की कोशिश की। मेरा सख्त रुख देखकर कहा – इससे मिलेगा क्या ? कचहरी में भटकना पड़ेगा आखिर क्या होगा समझौता ही न ? समझौता कर लो ।" मेरा धीरज जवाब दे गया । "किसी चीज की हद होती है" मैंने कहा । 'तुम हो अभी बच्ची मेरे बालों की ओर देखो । धूप में सफेद नहीं हुए । सारी उम्र सीखा । एक तो लोगों में यह धारणा बन गई कि पुलिस वाले किसी के सगे नहीं । झगडा बढ़ाने का कोई लाभ नहीं । कब तक तंग करेंगे ? धीरज रखो । सोच लेना. कल आ जाना ।" मैंने अर्जी टाईप करवा एस एस. पी. को भेज दी । जांच हुई । एक बार तो स्टाफ के हाथों के तोते उड़ गए । काम कम, मीटिंग ज्यादा । दो बार पुलिस वाले मैनेजर साहिब के पास आए । उनका रवैया नरम हो गया था । अकेले बुलाकर समझाया—बेटा मुफ्त की डिस्प्यूट से क्या मिलेगा ? यह बैंक है । रोज कस्टमर आते हैं, इससे बदनामी होती है । बैंक की साख गिर जाती है । क्यों राई का पहाड़ बनाती हो ? उन्हें भी मैंने समझा दिया है केबिन में बुलाकर ।" पहली बार मेरे लिए चाय मंगवाई गई ।

मुश्किल से एक हफ्ता गुजरा होगा । मैडिकल लीव लेते हुए चौदह-पन्द्रह दिन हुए होंगे । हस्पताल से घर आई थी । कमजोरी ज्यादा थी । आराम की जरूरत थी । दवा चल रही थी । बैंक से रजिस्टर्ड लैटर आया । आप की छुट्टियां कैंसिल की जाती हैं । तुरन्त हाजिर हो जाओ नहीं तो प्रशासनिक कार्यवाही होगी । पढ़ कर सिर चकरा गया । बीबी जी से पानी मांगा । चाय बनाने को कहा । सोच के घोड़े सरपट भागे । लैटर बीबी जी को सुनाया । 'अच्छा' सिर्फ इतना ही कहा ।

अगले दिन मैं ड्यूटी पर उपस्थित थी । गेट में आते ही मजाक शुरू हो गया । जैसे मेरे स्वागत के लिए तैयार बस तैयार हों । बीमारी से उठकर आई थी । काम ज्यादा होने से सिर दर्द होने लगा था । रघुवीर चपरासी को दो बार दवा लाने के लिए कहा । 'अच्छा जी' कह कर वह नहीं आया । लंच टाइम हो गया । कुछ खाने को जी नहीं चाहा । मैंने पर्स उठाया गोली लेने चली गई । बजाज, गुरचरणसिंह और सैनी खाना खा रहे थे । बजाज ने कहा—डिलिवरी करवा कर आई लगती है ।" सैनी ने कहा—मैं भी सोच रहा था कि रंग ऐसा पीला क्यों है ?" गुरबचन सिंह ने कुछ ऊंचे स्वर में कहा—दूसरे माह गिरवा दिया होगा ।" मैं जहां थी वहीं रुक गई । लगता था मेरी उर्जा खत्म हो रही है । कुछ सूझ नहीं रहा था । टांगें कांप रही थीं । क्या यह सच है ?" बजाज ने मुझे पूछने के लहजे में कहा । मेरी आंखों से चिनगारियां निकलरही थीं । वे खिलखिला कर हंस रहे थे । सामने पेपरवेट पड़ा था । उठाया और मार दिया । किसी को लगा या नहीं पता नहीं मुझे धक्का दिया था बजाज ने । मेरा सिर काउंटर पर जा लगा...मैं बेहोश हो गई थी ।

'हां हां, बात की थी ।' पिता जी बता रहे थे । मैनेजर दोनों वक्त आता रहा । खबर लेने के लिए बैंक के सभी सहकर्मी भी आए थे । पिता जी कभी बैंक नहीं गए थे । उन्हें पता नहीं था कि कौन-कौन था । मैनेजर मीठी-मीठी बातें कहता रहा—यों ही बात बढ़ाने का काम नहीं, प्यार जैसी कोई बात नहीं । रिपोर्ट दर्ज नहीं करवाना । आपस में बैठकर निपटा लेंगे । समझदार लोग तमाशा नहीं दिखाते ।' बीबी जी कह रहे थे – मैनेजर बहुत भला आदमी है । समझदारी की बातें करता है । बड़ा दु:खी लगता है मदद के लिए पूछ रहा था ।'' मैं चुप रही । सुबह फिर उसने आकर मां से कहा—ये पैसे रख लो । काम आएंगे । अस्पताल की दीवारें भी पैसा मांगती हैं ।'' मैं चीख उठी 'भला बुरा किसी के माथे पर नहीं लिखा होता । सभी कुछ इसी का किया धरा है । शकुनी है शकुनी । उससे कहा, ''मेरा मन बदल गया । पुलिस पर मुझे एतबार नहीं रहा था । समझ गई कि यह युद्ध है । जिनसे यह युद्ध लड़ना है उनमें आप भी हैं । आप अब जाएं ।'' मां से कहा—''मेरी दस दिन की मैडिकल लीव भेज दो । फिर बैंक जाऊंगी । अभी मैं जिन्दा हूं । और आज़ाद हूं ।'' □

व्यंग्य

बूढ़े सीने का दर्द

□ विनायक

वह एक लोकल पैसेंजर ट्रेन थी। उत्तर रेलवे के कबाड़खाने में जितने भी डिब्बे अंजर-पंजर ढीले-ढाले और टूटे-फाटे पड़े थे, उन्हीं में से किसी में से कुछ और किसी में से कुछ निकाल, रेंग सकने लायक, एक ट्रेन बना दी गई थी। वह अपनी एक सौ पच्चीस किलोमीटर लंबी यात्रा में तेरह स्टेशनों पर रुकती थी और अट्ठारह अन्य स्थानों पर खेतों में घुस मौसमी साग-सब्जियां और फल आदि जैसे मटर, चने का बूट, नदी के कछारों के तरबूज-खरबूजे खाने के लिए रुक जाया करती थी। रास्ते में पड़ने वाले दो-चार अमरूदों के बागों के अमरूद भी उसे बेहद पसंद थे। वहां भी ताजे-गदराए अमरूद तोड़, चाकू से फांक कर, काली मिर्च-नमक से खाया करती थी। अमरूद उसकी कमजोरी थे इसीलिए चाकू-नमक सदा साथ रखती थी।

मूंगफली के खेत में भी वह अकसर विचरती पहुंच जाया करती थी और कच्ची दुधारी मूंगफली झोले में भर लाया करती थी। यहां भी वह निखालिस खून पर आधारित जनाना रिश्तों की ऐसी-तैसी करवाया करती थी। लेकिन उसकी पैसेंजर भीड़ उसके साथ होती थी इसलिए गाली-गलौज से आगे मामला कभी बढ़ता ही नहीं था।

वहरहाल वह फिर भी घिर्र-घिर्र, चू-चू कर चलती थी और लोग उसमें चलते थे। वैसे उसमें लोग चलते थे आश्चर्य इस बात पर नहीं होता था बलिक वह चलती है, यह देख अवश्य सबको हैरत होती थी, ठीक उसी प्रकार जैसे भारत के लोकतन्त्र को देखकर विदेशी बुद्धिजीवियों को होती है और अब देश के बुद्धिजीवियों को भी होती है।

उसी ट्रेन के, जो घंटे भर से शीत की उस कोहरे भरी भोर में मटर के एक खेत में खड़ी मीठी छीमियों का सुख भोग रही थी, एक डिब्बे में ऊपरी बर्थ पर ठिठुरन के कारण

गठरी बने लेटे एक बुजुंग ने पूरी ताकत लगा कर बड़ी जोर से घरघरा कर खंखारा। उनकी खंखार देख कर लगा जैसे सारे मुल्क के गले में बलगम फंसा हुआ है। लोग नजर उठा कर उस गठरी को ही देखने लगे। मैं उसी बर्थ के नीचे बैठा डायरी में कुछ नोट कर रहा था, डरा कि कहीं बुजुंगवार के गले से कुछ उछल कर मेरे ऊपर न आ गिरे। फिर मैंने सिर घुमा खिड़कियों की तरफ देखा जो लाइन से बिना शटर निःवस्त्र खड़ी थीं और हांड़ कपा देने वाली हवा अन्दर घुसाए दे रही थीं। मैं समझ नहीं पा रहा था कि भारतीय रेल की विपन्नता पर द्रवित होऊं या ऊपर बंडल बने लेटे बुजुर्गवार पर जिन्हें वह कंटीली हवा चुभ रही थी।

खंखारने की वेदना के कुछ ही देर पश्चात बुजुर्गवार नीचे उतरने का उपक्रम कर रहे थे। इसी गरज से उन्होंने अपना मैले-कुचैले अलीगढ़ी सुथने वाला एक पैर धीरे से हवा में लटकाया। पैर की खाल में झुरियां नहीं, सलवटें थीं और ऐसे गहरे रंग के चकत्ते थे, जैसे खाल कहीं-कहीं झुलस गई हो। पैर ठीक मेरी नाक के सामने आ देश के भविष्य की तरह झूलने लगा, मैं बगल में खिसक गया पैर की बिवाइयां और सिकुड़नें बता रही थीं कि कम-से-कम कुछ नहीं तो सत्तर-अस्सी बरस इन्होंने भारत की पवित्र भूमि को अवश्य झेला होगा।

बुजुर्गवार ने पैर को और नीचे की ओर पोंगा कर नीचे की बर्थ टटोलने का प्रयत्न किया जो कंबख्त उनके पैर से अब भी कुछ इंच नीचे थी। वे कुछ और लरजे और इस विश्वास से कि अब सीट उनकी पहुंच में है, दाहिने हाथ से पकड़ी ऊपर की जंजीर छोड़ दी और वे सुरंरऽऽ से नीचे आ गए। पैर बर्थ के बाहर लटका होने के कारण वे धप्प से फर्श पर आ लुढ़के। निश्चय ही उनका बुढ़ापा इस हादसे के लिए कतई तैयार नहीं था। वे चित्त हों इसके पहले ही मैंने उन्हें थाम लिया। उनके दुर्बल पैर बुरी तरह कांपने लगे। मैंने उन्हें सामने खिड़की के पास वाली सीट पर बिठा दिया लेकिन बुजुर्गवार के फर्श पर गिरते समय उनका एक हाथ मेरे सिर पर आ पड़ा। स्पष्ट था उन्होंने ऊपर पकड़ी बर्थ जब छोड़ी और इधर उनके खोजी पैर को नीचे की बर्थ ने दगा दे दिया तो उन्हें अपनी चूक का अहसास हुआ था और हाथों ने कोई दूसरा सहारा थाम लेना चाहा था। अब मेरा सिर तो आज के आदमी का सिर था, वह भला किसी का सहारा बनना क्यों कबूल करने लगा।

मैं सूखी हड्डियों की चोट सहला पाता, इसके पहले ही बुजुर्गवार शर्मिदा हो मुझसे माफी मांगने लगे। उनका झुर्रियोंदार सूखा चेहरा और उनकी मासूमियत और इधर-उधर टपकी पड़ रही दुर्दांत गरीबी देख, मैं क्या, आस-पास के सभी लोग पिघल गए थे। वे स्वतंत्र भारत के उस तमगे की तरह लग रहे थे जो आजादी के दिन या गणतंत्र दिवस के अवसर पर दिल्ली में बांटा जाता है। उनका मलेसिया का चीकट हो चुका कुर्ता था, उस पर जर्जर हो रहा तथा कई जगह से फट चुका पूरी बांह का स्वेटर ऐसा दीन-हीन हो झूल रहा था जैसे हमारे देश की योजनाएं स्वेटर की गंदगी के नीचे तीक्ष्ण दृष्टि डालने से आसमानी रंग झलकता था जिसे देख चौथी जमात में पढ़ी और मुंसी जी द्वारा मार-मार कर रटाई गई वह इबारत याद आती थी कि भारत प्राकृति का अद्भुत देश है, यहां

आकाश नीला होता है, यहां की धरती पवित्र और नदियों का जल निर्मल है। बच्चों के नरम व मासूम हाथों पर उनकी सोंटी बरस-बरस उन्हें यह भी तीन बार चिल्लाकर कहलवाती थी कि हमें गर्व है कि हम भारत में पैदा हुए।

हमारे बुजुर्गवार कभी छः फुट रहे होंगे लेकिन उनकी हड्डियों में घुसी यातनाएं सूखी देह को कमान बना चुकी थीं। जैसे पुरानी मैली रूई धुन दी गई हो, उसी तरह बिखरी-छितराई उनकी पीली-सफेद दाढ़ी के बाल उनका पूरा चेहरा लगभग छिपाए थे। थे। माथा लकीरों से भरा था। बाईं ओर माथे पर एक गुलमा, था, जैसे एक पुराना गोल पत्थर कहीं पर मुद्दत से पड़े-पड़े जम गया हो। जिसे कबाड़ी भी देख नाक-भौं चढ़ा ले, उनकी ऐसी मैली-कुचैली, कई जगह से टाँकी-सिली, हवाई चप्पल ठेठ देसी बच्चे की तरह घिसटती, उल्टी-सीधी हो पड़ी थी। उसकी आधी एड़ियां घिस चुकी थीं, ठीक भारत की किसी गरीबी उन्मूलन योजना की तरह या जैसे आंखों के सपने घिस गए हों वैसे। भारतीय रेलवे में ऐसी चप्पलें नीचे छोड़ कर, ऊपरी बर्थ पर चैन से सोया जा सकता है, जैसे संसद में मर्यादा छोड़ कर बक्ता सोते हैं।

बुजुर्गवार ने बैठकर, संयत होते, अपने थरथराते गले से जब दोबारा माफी मांगी तो मैंने झुककर, उनके दोनों हाथ अपने हाथों में पकड़, सांत्वना दी और दुनियादारी दिखाते हुए यह भी जोड़ा कि मैं बड़ा भाग्यशाली हूं कि आज एक बुजुर्ग का हाथ मेरे सिर पर रखा गया। मैंने उन्हें 'अब्बा' कह सम्बोधित किया और सोचा मेरी बातों से बुजुर्ग के अन्दर उपजा अपराध बोध कम होगा। हैरत की बात यह भी थी कि इतनी दांत कटकटाती सर्दी में भी वे कांप नहीं रहे थे।

उन बुजुर्ग ने पैर अब ऊपर उठा लिए थे और सर्दी ने उन्हें इतना मजबूर तो कर ही दिया था कि वे पैरों को पेट के साथ चिपका, उसे हाथों से बांध, उसका मुकाबला करें। अब वे चिंतित-से बैठे सिर नवाए कुछ सोच रहे थे। उनके पैर के पंजे लकड़ा से लग रहे थे। सर्द हवा से बचाने की नीयत से मैंने उन्हें कन्धे से पकड़ अपनी सीट पर बिठाना चाहा लेकिन उन्होंने बड़े प्यार से आग्रह पर कृतज्ञता प्रकट करते हुए मुझे उस छोटे-से त्याग से वंचित रखा।

डिब्बे के दूसरे छोर पर कुछ रोज के चलने वाले उत्पाती लौंडे दरवाजे को घेरे मसखरी कर रहे थे। उसी बीच शायद उनमें से कोई सुबह-सुबह फारिग होना चाह रहा था। वे सभी मिल कर संडास के दरवाजे पर जड़ी लकड़ी की वह फट्टी उखाड़ने लगे जिससे दरवाजा जाम किया गया था और जो यह ऐलान कर रही थी कि इस डिब्बे में प्रसाधनवाली सुविधा उपलब्ध नहीं है और आप लोग अपने पेट के दबावों को गैरकाबू न होने दें, पेशाब करने की कोई ऐसी असुविधा नहीं थी। इसके लिए लोग खिड़कियों या दरवाजे का प्रयोग करना बचपन से जानते थे। वैसे भी हमारे संविधान में जो अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता दर्ज की गई है, उसमें यह भी शामिल है कि यह जो जमीन का टुकड़ा है और जिसका नाम भारत है, उसका नागरिक कहीं भी और कैसे भी पेशाब कर सकता है थूक सकता है, और यदि पान खाया हो तो उससे सब जगह सुन्दर चित्रकारी कर सकता है।

इस देश के नौजवान किसी कार्य में लग जाएं और वह पूरा न हो, ऐसा तो हो ही नहीं सकता। भले ही वह मामला परीक्षा बहिष्कार का हो, गुरु पिटाई हो या सामूहिक नकल करने का। वे हंसते-खेलते इन उच्च लक्ष्यों को प्राप्त कर लेते हैं, जब युवा शक्ति का उत्पीड़न संडास का दरवाजा न झेल पाया और भड़ाक से, एकदम से खुला तो जवान ठहाकों से पूरा डिब्बा हिल गया। बाकी यात्री भी उचक-उचक कर संडास में ही झांकने लगे। वहां खड्डी तो दूर, उसकी जगह की फर्श ही गायब थी और पटरियां दौड़ थीं; लगा सचमुच हम इक्कीसवीं सदी में बड़ी तेजी से घुसे जा रहे हैं।

बहरहाल ट्रेन चल रही थी और मुल्क के तथाकथित कामकाजी लोग थे, वे भी चल रहे थे, जो ड्यूटी की हाजिरी दर्ज करवाना अपना जन्मसिद्ध अधिकार मानते हैं क्योंकि अब दफ्तरों में हाजिरी लगाना ही काम माना जाने लगा है और इस तरह पूरा देश कौम को आगे बढ़ाने में जुटा है, एक आदर्श कार्य-संस्कृति नहीं, हस्ताक्षर संस्कृति के साथ।

मैं फिर अपने बुर्जुगवार की ओर मुखातिब हुआ और बर्थ पर थोड़ा आगे सरक, सामने की ओर झुकते हुए बड़े मोतबर ढंग से फिर उनका हाथ अपने हाथ में ले, उन्हें समझाने लगा, ,'अब्बा, अब आपकी उम्र ऊपरी बर्थ पर चढ़ने-उतरने लायक नहीं है और आप कमजोर भी बहुत हैं।"

अब्बा को ताकीद करने के बाद मुझे लगा जैसे सीने का कोई बोझ हल्का हो गया। मैं फिर पीछे खिसक, अब्बा का हाथ उनकी गोद में आहिस्ते से यथा स्थान रख, आराम से टेक ले पुन: बैठ गया। अब्बा अब पैर नीचे लटकाए और हाथों को गोद में रखे, चिंतित, कुछ झुके से बैठे थे। वे न जाने किस सोच में डूबे से थे।

बात आई-गई हो गई। पैसेंजर ट्रेन चूं-चूं, घिर्र-घिर्र करती फिर दुलकी चाल चलने लगी। और वकील एक नेता हम सुनहरे कल की ओर बढ़ने लगे।

पैसेंजर ट्रेन पर सवारी करने वाले अवश्य यह जानते होंगे कि वह सीटी बजा जब कभी-कदा दौड़ने लगती है तो किस स्वर्गीय सुख की अनुभूति होती है और कैसी-कैसी आशाएं मन में चौकड़ी भरने लगती हैं। लोग जुगाड़ बिठाने लग जाते हैं कि अब तो ट्रेन पूर्वाह्न बीतते-बीतते गंतव्य तक पहुंच ही जाएगी और अपरान्ह की पहली ही किसी ट्रेन से भाग सकने में सफल होंगे, आखिर कार्यालय जाने और चिड़िया बिठा कर वापस स्टेशन आने में कितना समय लगेगा ?

इस बीच कुछ देर के लिए बुजुर्गवार मेरे जेहन से उतर गए थे, लेकिन अचानक मेरी नजर उन पर फिर गई तो देखा वे और झुक गए हैं और दोनों हाथों के पंजों का दोना बना, ठोढ़ी उसी में रख टप-टप आंसू बहा रहे हैं। वे कभी-कभार अपने सिर को उठा अपने खस्ताहाल स्वेटर की आस्तीन से, नाक सुड़क-सुड़क, आंसू पोंछ भी रहे थे। उन्होंने अपने रोने को छिपाने का तनिक भी प्रयत्न नहीं किया था। लगा उन्हें कुछ साल रहा है जैसे हम सबको कुछ न कुछ सालता रहता है पर हम रोते नहीं क्योंकि ऐसा करना अब मॉड

नहीं माना जाता। प्रगतिशीलता में भावुकता रेंगने वाला बिना रीढ़ का केंचुआ है या गीत गाने वाला कवि।

कोई कुछ बोल नहीं रहा था, सब बस बुजुर्गवार पर तरस खाते उन्हें ताक रहे थे।

मैंने फिर आगे सरक, उनका दाहिना हाथ खींच अपनी ओर किया और प्यार मिश्रित आश्चर्य से पूछा,—"अब्बा क्यों रो रहे हो ?"

अब्बा बांएं हाथ की हथेली से सिर उठा मुखर हो रोने लगे, वे अब और सीधे बैठ कर रो रहे थे और कभी अकुलाहट में खिड़की के बाहर देखते, कभी आस्तीन से मुंह व आंख पोंछते जैसे अक्सर छोटे बच्चे करते हैं, जिनके मां नहीं होती और घर में पिटाई के बाद सड़क के किनारे बैठ कहीं रोते हैं। सभी पैसेंजर अब और आश्चर्य से उन्हें देखने लगे। उनकी तार-तार बिखरी हुई सफेद दाढ़ी पर उभर आई वेदना से सभी दुखी हो उठे थे। मैं डर गया कहीं उन्हें चोट तो नहीं आई।

कुछ क्षण बाद बुजुर्गवार कुछ सहज हुए। उनका खुरदरा, जर्जर दाहिना हाथ अब भी मेरे हाथों में था। अपने हाथ से अलग करते उन्होंने एक बार फिर करीने से नाक छिनकी, तौलिये से रगड़ कर पोंछा, फिर जो अन्दर साल रहा था बताने लगे।

दरअसल मेरे द्वारा उन्हें अतिशय प्यार से 'अब्बा' कहे जाने से वे आहत हुए थे। उनका खंडहर हुआ हृदय प्यार की मार झेल नहीं पाया था। बताने लगे—उनके एक ही औलाद, एक जवान बेटा है। कुछ ही वर्ष पूर्व उनकी शादी हुई थी। उनकी अपनी बीबी को भी गुजरे दस वर्ष हो चुके। बेटा चाहता है कि वे अपना दो कोठरियों वाला पुश्तैनी मकान उसके नाम लिख-पढ़ दें। उनकी छिपी मंशा मकान बेच कर ससुराल में जा बसने की है। उसकी बीबी रात-दिन इसीलिए उसे उकसाती रहती है। बेटे को इस बात की तनिक भी चिन्ता नहीं कि फिर अब्बा का क्या होगा, और कि वे अब इस बुढ़ापे में कहां जाएंगे। बेटा इसी बात को लेकर सुबह-शाम उलझता है और उनकी पिटाई भी करता है। वे खुद चपड़ासी की मुलाजिमत से रिटायर हुए थे। और अपर्याप्त-सी पेंशन में गुजर करते थे। लेकिन अब बेटा वह भी ले लेता है। रोटी देता भी है तो ऐसी लानत-मलानत के साथ कि कुत्ता भी मुंह न लगाए, कह कर बुजुर्गवार सिसकने लगे। उनकी बातें सुनकर सबको अपनी औलादें याद आने लगीं और मन-ही-मन वे उन्हें तौलने लगे, और अपने सुरक्षित बुढ़ापे के प्रति सशंकित हो उठे।

बुजुर्गवार गमगीन हो कुछ क्षण बैठे रहे, फिर आगे झुक मेरा एक हाथ अपनी बिखरी दोनों हथेथियों में बांध लेते। बोले, "बेटा एक तुम भी तो किसी की औलाद हो जो मुझे इतने प्यार से अब्बा कहा ! उधर एक मेरा बेटा है जो मुझे दर-बदर करने पर तुला है, उसे तो जरा भी फिक्र नहीं कि उसका बाप इस जईफी में कहां-कहां ठोकरें खाता फिरेगा !"

पैसेंजर ट्रेन कब रेंगती, कब खड़ी हो जाती और फिर चीं-चीं करती कब पुन:

भागने लगती, अब्बा की बातों में कुछ पता ही नहीं चल पा रहा था। वे बता रहे थे कि पास ही के एक गांव में अपनी बड़ी बहन हमीदा को देखने जा रहे हैं। वे अस्सी के करीब होने को आई थी और बिस्तर पर पड़े-पड़े अपने दिन गिन रही थी। वे टूट चुकी थीं, वे हमीद आपा से पांच-छ: बरस छोटे थे। हमीदा आपा को वे अपने तुतलाहट के दिनों से ही 'हम्मी आपा' कह कर पुकारते ते। आज उन्हीं हम्मी आपा को आखिरी बार देख लेने की लालसा उन्हें वहां तक खींचे लिए जा रही थी। देर शाम को जब यही पैसेंजर लौटेगी तो इसी से वे भी वापस हो लेंगे।

अब्बा बड़ी चिन्ता में थे। सर्दी के दिन हैं और लौटते समय ट्रेन रात के ग्यारह अवश्य बजा देगी। स्टेशन से उसका घर दस-बारह किलोमीटर दूर है और रात टेंगो मिलता भी है या नहीं! और क्या पता बेटा घर का दरवाजा ही न खोले! फिर वे रात कहां और कैसे गुज़ारेंगे! वह तो जरा देर होते ही ऐलान कर देता है कि खाना खतम हो गया और चौका उठा दिया गया। शायद उन्होंने निश्चय किया होगा कि रात स्टेशन की बेंच पर ही पड़ कर जैसे-तैसे गुजार देंगे। सर्दी में अकड़ भी गए तब भी ठीक, औलाद की कफन-दफनवाली गालियां भी न मिलेंगी। उसकी तो बला कटेगी।

पैसेंजर ट्रेन ज्यादा दूरी की तो होती नहीं। रोजमर्रा के थोड़ी-थोड़ी दूर के चलने वाले नौकरी-पेशा या रोजगारी लोग ही उस पर चढ़ा-उतरा करते हैं। मेरी पहचान के भी कई मुखौटे दिखे लेकिन मैं अब्बा की ही बातों में लीन था और उन्हें ऐसे ही अवसरों के लिए एकत्र किए सांत्वना के अनमोल शब्दों को सुनाता चल रहा था जिनका लब्बो-लबाब यही होता है कि समय एक-सा नहीं होता और कि सब ठीक हो जायेगा। सच, यदि इन वाक्यों की खोज न हुई होती तो निम्न व निम्न मध्य वर्ग बेचारा कितना असहाय होता या कब का हताशा में मर-खप गया होता। ऐसे ही तो दो-चार महान मुहावरे हैं जो उस अदृश्य रेखा के बोझ को थामे हैं जिसे चिंतक, विचारक और अर्थशास्त्री गरीबी की रेखा कहते हैं और जिसके नीचे सत्तर करोड़ बेचारा, बेहाल, बेख्याल भारतवासी आधी नींद सोता है और मंत्री की सभा में उनके बुलवाने पर तीन बार 'जय हिन्द' की दहाड़ लगाता है और नासमझी में सभा विसर्जित होते हो अमर्यादित शब्दों की माला फेरता है।

अब यहां असलियत तो यह थी कि इन अब्बाजान को अपनी इकलौती सन्तान से अभी और न जाने कितने दिन जूते-चप्पल खाने बदे थे, और उनके बाप-दादा और मकान की उस छत को, जिसके नीचे उनका और उनका हम्मी आपा का न भूल सकने वाला बचपन गुजरा था, न जाने और कितने दिन उनके सिर पर रह पाना बदा था, उसी के नीचे ही तो उनकी अम्मी ने उन्हें लोरियां गाकर सुलाया भी था और उनकी हम्मी आपा उन्हें गोद में लटकाए घूमा करती थी और हर मौसम बहती नाक पोंछा करती थीं। उसी के नीचे उनकी बीवी ने उनकी गोद में दवा पीते-पीते दम तोड़ा था।

मैं मन ही मन सोचता चल रहा था कि आखिर इन अब्बाजान की समस्या का कोई हल भी हो सकता है या नहीं! या वे यों ही इकलौती औलाद वाला सुख भोगते

रहेंगे, छत तो ऊपर से गिरने वाली आपदा से बचाती है लेकिन अगर मुसीबत घर में ही पैदा हो जाए तो उसका क्या हल! उन्होंने दम फूलते सीने को तनिक सीधा कर बताया कि जब उनका बेटा हुज्जत करके गली में उन्हें बेरहमी से पीटता है तो लोग तमाशा देखते हैं और फिकरा कसते हैं। लोग लड़के की चाल को तो समझते नहीं, उल्टा उन्हीं को कोसते हैं कि कब्र में पैर लटका है लेकिन बुड्ढा खस्ताहाल घर इकलौते बेटे को नहीं देना चाहता, हठधर्मी पर उतर आया है।

क्या जाने क्या सोचते-सोचते मैं फिर उन बुजुर्ग के चेहरे पर बेहतरीन फैली दाढ़ी के सफेद बालों को देखने लगा कि जैसे यह देश बूढ़ा हो गया है और अपनी ही औलादों से जूतों-चप्पलों से पिट रहा है उस समय वे खिड़की के बाहर देख रहे थे। तभी मेरा स्टेशन आ गया और गाड़ी चीं-चीं, चूं-चूं करती ऐसे रुकी जैसे उससे अब चला नहीं जा रहा है, गोया कि मुल्क में अब और प्रगति सम्भव नहीं और अगर है तो कम से कम वह नहीं ढो सकती, और कह रही हो कि मेरी जान छोड़ो ऐसी प्रगति की ऐसी की तैसी! मैंने बुजुर्गवार के दोनों हाथ पकड़ उनसे जब चलने की इजाजत मांगी तो वे पहले तो कुछ हताश हुए लेकिन फिर हुलस-से उठे जैसे उन्हें मेरी मुलाकात से बड़ी खुशी हुई हो और वह एक यादगार हो गई हो। वे आंखों में अजीब-सी आंसुओं भरी चमक लाते, बूढ़े घरघराते गले से बोले "जियो बेटा, खुदा तुम्हें सलामत रखे।" मैंने चलते-चलते उन्हें फिर ढाढ़स दिलाया कि वे दिल छोटा न करें, ऊपरवाला एक दिन रहम जरूर करेगा। मैं कह तो रहा था लेकिन मेरे अपने ही अल्फाज खुद मुझको किसी नेता के अल्फाजों की तरह दोगले और बनावटी लग रहे थे।

मैंने नीचे उतरकर बुजुर्गवार को हाथ से फिर इशारा किया। वे खिड़की से सटे बैठे अपनी नम हो उठी आंखों से मुझे झांक रहे थे। फिर उन्होंने भी लम्बी-लम्बी, झुर्रीदार, सूखी अंगुलियों वाला अपना एक हाथ बाहर निकाल हिलाया। बीच हवा में अटके उन हाथों में कोई जुंबिश नहीं थी। उनके नीले मैलखोर स्वेटर की उघड़ी-फटी कोहनी नीचे झूल रही थी जैसे सरकारी योजनाएं तार-तार हो लटकी पड़ रही हों।

मैं पीले सरसों के खेतों के बीच से होता उस छोटे से स्टेशन से काफी दूर चला आया था लेकिन ट्रेन अब भी वहीं सूं-सूं सुलग रही थी। उसे शायद किसी अन्य जोड़ीदार ट्रेन के गुजरने का इन्तजार था। □

विस्थापन की अंधी सुरंग से गुज़री थी मैं भी......

□ राजी सेठ

तब, कलिंग सम्राट अशोक की महारानी बनी थी मैं......बात सुनने में ज़रूर विचित्र सी लगेगी, इसीलिए उसे कहने का संकोच घना है। बात शाहजहांपुर (उ०प्र०) की है जहां मेरे पिता देश विभाजन के बाद आकर बसे थे और जीविका उपार्जन के लिए जी-तोड़ संघर्ष कर रहे थे। लाहौर में एक आरामदेह सपन्नता में गुज़रता जीवन एकदम दूसरी तरह के जीवन कक्ष में झोंक दिया गया था।

भारत आने के बाद धनाभाव के कारण हम भाई बहिनों की शिक्षा का क्रम देर से शुरू हो पाया था। उन दिनों माता-पिता के दर्दों का एहसास शिराओं में हर पल धपधप किया करता था, शायद इसीलिए पढ़ाई में जी-तोड़ परिश्रम, अग्रसरता की चिन्ता, उनके कठिनाई से जुटाए धन को यथा सम्भव सार्थक करने का दायित्वभाव मन में सतत बना रहता था। यह हमारा ही घर था जहां भाई लोग आजीविका के संघर्षों में जुटे थे और लड़कियां पढ़ रहीं थी। पुरुष सत्तात्मक समाज की यह भी तस्वीर थी।

आर्य कन्या पाठशाला से हाई स्कूल पास करने के बाद राजकीय इंटर कालेज में प्रवेश लिया। जिसके चेयरमैन मेरे स्वर्गीय ससुर नामी गिरामी वकील श्री नवल किशोर सेठ थे। नाटकों, वाद विवाद प्रतियोगिताओं, सांस्कृतिक गतिविधियों में भागीदारी मेरे बारे में जानी गई बात थी। 3 वर्ष से "आल राउंड बेस्ट गर्ल" का पुरस्कार भी मिल रहा था। ऐसा ज़रूर हुआ होगा कि इन्हीं बातों ने भीतर एक अपूर्व उत्साह और तेजोद्वेलन की सृष्टि की होगी, क्योंकि उन दिनों का अपना चहकना और माता पिता की शाबाशियों के लदते आते अम्बार याद हैं।

उन्हीं दिनों कालेज में वार्षिक उत्सव में अभिनीत किये जाने के लिए डा० रामकुमार वर्मा का नाटक "तिष्यरक्षिता" चुना गया। मुझे भूमिका दी गई महारानी तिष्यरक्षिता की, जो कलिंग के सम्राट अशोक की पटरानी थी। यह बाहरी घटना मेरे निजी जीवन की इतनी विशिष्ट घटना बनेगी इसका अनुमान लगाना कठिन है।

रिहर्सल के दिन गुजरते गए थे, वार्षिकोत्सव का दिन निकट आने से आयोजकों में कास्टयूम्स के प्रबंध की चिन्ता होने लगी । आज से 45 साल पहले दिल्ली के लाजपत नगर मार्केट जैसा कोई बाज़ार नहीं था, जहां से किराए पर चमचमाते नकली आभूषण पाये जा सकते हों और शादी की सात्विकता भंग करते हुए वरमाला के समय अभिनेत्रियों का सा शृङ्गार सम्भव कर लेने के बाद उन्हें लौटाया भी जा सकता हो। उन दिनों उपभोक्ता संस्कृति के कीटाणुओं का इतना संक्रमण भी नहीं हुआ था कि उन्हें जरूरी ही समझा जाए पर राजमहिषी की भूमिका के लिए आभूषणों का प्रबन्ध एक जरूरी बात थी ।

कालेज के चेयरमैन श्री नवलकिशोर सेठ जिन का दो वर्ष पहले देहांत हो चुका था। पर कालेज की गतिविधियों में सेठ परिवार का हस्ताक्षेप पूरा था। संयोग से मेरी ननद भी उसी कालेज में पढ़ती थीं और अभिनय में विशेष रुचि रखती थीं। सामंती परम्परा में आमूल पोषित, नाम प्रतिष्ठा के प्रति खूब सजग, आत्ममुग्ध बहुत गर्वीली मेरी (होने वाली) सास ने कालेज में सन्देसा भेजा कि "सुना है कालेज के नाटक में महारानी की भूमिका के लिए आभूषणों की जरूरत है, सो मिढ़ई (हमारा खानदानी नौकर) के हाथ सुच्चा ज़ेवर भिजवा रहे हैं। आगे जिम्मेवारी आपकी है। खास कहना यह है कि जो भी लड़की इसे पहने, वह नाटक के बाद इसे हड़बड़ी में उतारने की बेवकूफी न करे। उस लड़की को ऐसे ही घर भेज दिया जाए, यहीं शांति से आभूषण उतार कर सहेज लिये जाएंगे।"

इस कथन को लिखते समय सोच रही हूं कि ऐसी ठहराव भरी विश्वासोदीप्त मानसिकता उन दिनों हम विस्थापितों की नहीं हो सकती थी। जिन सुरंगों में से हम गुजरते आ रहे थे वहां अविश्वास, अरक्षा लूटपाट, छीनाझपटी की आहटें ही असलियत भरी हो सकती थीं।

बहरहाल, यहां यह उल्लेख जरूरी हैं कि कालेज की और ससुराल की हवेली (जो अब खंडहर हो चुकी है) की दीवार सांझी थी। बीच में ऐसा बड़ा कोई फासला नहीं था जो ऐसे सुसज्जित परिधान में पाटा न जा सकता हो। कालेज के गेट से निकलते ही हवेली के सदर दरवाजे तक पहुंचने की उठान शुरू हो जाती थी।

उस दृश्य की कल्पना की जा सकती है जब मैं राज परिधान प्रसाधन समेत, आभूषणों से लदी फंदी हवेली के कई दालान लांघती, अपनी (होने वाली) ननद के साथ उस आंगन में जा खड़ी हुई। मन में विशेष कुछ घट रहा हो, ऐसी कोई याद नहीं बल्कि चेतना में वह दृश्य भी कुछ धूमिल सा ही है क्योंकि तब पता नहीं था कि यह जीवन के किसी बड़े अध्याय का आमुख है। यह सब कुछ मेरे लिए खिलवाड़ ही था, नाटक की निरन्तरता। मुझे इतना भर याद है एक प्रौढ़ा ने प्रश्न किया था—

—तुम किस की बेटी हो, बेटा ?"

—मैंऽ ?...मैं देशराज पंजाबी की"

—यह पंजाबी क्या जात हुई ?

—हम त्रेहन हैं...पर सब लोग हमें पंजाबी कहते हैं, इसलिए पिताजी ने अपना नाम पंजाबी रख लिया है" (मुझे पता नहीं पिता जी के मन में इस नाम के माध्यम से उस भूखण्ड से जुड़ने की आकांक्षा थी या यों ही ऐसा हुआ था)

—क्या काम करते हैं तुम्हारे पिताजी ?"

—राशन की दुकान।

—कौन कौन, क्या-क्या है घर में ?"

—हमारे घर में तो कुछ भी नहीं है। मिट्टी के बर्तन हैं, उनमें हम दाल चावल रखते हैं। दो थालियां हैं पिता जी और भापा जी खा लेते हैं तभी हम खाना खाते हैं"

अब याद आ रहा है तब घर में दो पीतल की थालियां, चार कटोरियां और चार गिलास लाये गए थे। यही बर्तन बार बार मंजते थे और बारी बारी खाना खाया जाता था। क्रम, थक कर आए पिता और बड़े भाई से शुरू होता था। हमें परोसने के लिए तत्पर खड़े रहना पड़ता था। कई बार अपने को खाता और बच्चों का टुकुर टुकर देखना देख पिता पसीज जाते होंगे। उनका थाली बढ़ाकर --"आ कुड़े मेरे नाल खा" कहना और बांह पकड़कर पास बिठाना याद है। अनुशासन का यह क्रम मां का बनाया हुआ था। अकसर पिता जी के देर से घर लौटते, अपने नींद से लड़ने और फर्श पर ऊंघने की बात स्मृति में तैरती आती है।

घर में कुछ न होने के इस निस्संकोच अकुंठ, सत्य कथन ने मेरी सास को जरूर चौंकाया होगा। उस समय की उनकी प्रतिक्रिया अच्छी तरह याद नहीं पर आगे घटनाओं का जैसा बनाव बना उससे लगता है कि उनके स्फीत श्रेष्ठता भाव को यह कथन चौंकाने वाला लगा होगा पर इस निराभिमानी मुद्रा ने कहीं छू भी दिया होगा। उन्होंने तो परत दर परत पोषित किए जाते सांमती दर्प के वातावरण में आत्मछवि की संभाल के सवाल को बहुत बड़े सवाल की तरह जाना था जिसकी रक्षा के लिए चाहे झूठ के कितने भी आवरण ओढ़ने पड़ें। मेरे बारे में सोचते अपनी पारंपरिक सीमाएं उन्होंने कैसे लांघी होगी पता नहीं ? यह भी तय नहीं कि उन्हें ठीक से पता ही हो कि हवेली की चारदीवारी के बाहर कौन सा संसार कराह रहा है। याकि जानती रही हों कि विस्थापन एक सामूहिक दुर्घटना, एक ? बन चुका है, उसके फौलादी भीमकाय शिकंजे में से रेंग रेंग कर निकलते लोग पटरियों और फुटपाथों पर बिछते जा रहे हैं जिसकी लघुतम इकाई मेरा भी परिवार है। वह तो जमींदार घराने की सम्भ्रांतमना गर्वीली महिषी थीं जिन्हें औरों की नियति से अधिक अपने चुनाव की अदा प्यारी थी।

वह अबोध अनावृत्त, निराभिमानी क्षण मेरे भविष्य के निर्णय का बीजमंत्र साबित हुआ, ऐसा उन्होंने बाद में मुझ बताया। ऐसे जीवन साथी की —जैसे अपूर्व वे हैं—उपलब्ध हुई। सास जी से मेरे सम्बन्ध आजन्म प्रगाढ़ मधुर और निर्मल रहे। उस समय के उनके निर्णीत विवेक की मैं दाद देती हूं कि तब जब हम सब विस्थापितों के माथे से कुलीनता के लेबल निर्ममता से खींचकर उतार लिए गए थे और बेबसी भाग्य में लिखी गयी थी तब उन सब दबावों से मुक्त होकर एक निर्णय की ओर उन्होंने हाथ बढ़ाया जो उनकी सदी की और उस तरह की गर्वीली स्त्री के लिए अकल्पनीय बात थी।

मैं छोटी थी। शिक्षा पूरी नहीं हुई थी। उस बीजसूत्र में से उसरते सम्बन्ध को फलते पांच छः वर्ष लगे थे। यह उसरना कई उतार चढ़ावों में से होकर परवान चढ़ा था पर वह सब अवान्तर बातें हैं स्मृति के दूसरे गलियारों को प्रतिश्रुत। याद करती हूं...कि फिर मैंने अपने आप को अब अंधी सुरंग के दूसरे छोर पर खड़ा पाया था। जहां अनजान, पराये लोगों के निर्व्याज अपनाने का झक उजाला था। उजाला ही उजाला। और मैं फिर उस परिवार की बहू बन गयी थी। □

नई कलम : युवा दृष्टि

जम्मू विश्वविद्यालय परिसर

बिन पानी सब सून...

□ **परमिन्दर कौर**

जम्मू विश्वविद्यालय का राजनीति शास्त्र विभाग और उसका ग्रीष्म सत्र। व्यवस्था का कमाल ! कि ऐसे में वाटर कूलर में भी जान नहीं। आखिर यह तय हुआ कि सभी छात्र छात्राएं मिल कर एक मटका खरीदें और ठंडा पानी पियें और पिलायें। जिसकी देख-रेख हर महीने की पगार पर चौकीदार किया करे। फिर तो बस इस प्रस्ताव के तुरन्त अनुमोदन पर विभाग में एक मिट्टी की सुगन्ध लुटाता, अमृत घट 'मटका' उपस्थित हो गया। अब तो बस सारा झंझट ही खत्म था। इस चिलचिलाती धूप में हम हर आगत का स्वागत बजाए गर्मागर्म चाय के ठंडे पानी से करते। अब कमरे के कोने में विराजमान धर्म निरपेक्ष मटका खूब चर्चित हो गया। और बैठे ठाले रोज-रोज 'वाह-वाही' लूटने लगा।

कुछ दिन तो चैन से कटे फिर एकाएक मटका जी महाराज को जाने किसकी नजर लग गयी। एक रोज सुबह कमरे का दरवाजा खुलते ही वे मुझे देश विभाजन की तरह खण्ड-खण्ड नजर आये। उन्हें देख कर हमारा जी भी टूक-टूक हो गया। मारे प्यास के गले में कांटे उग आये थे। और मैं अपनी अंगुलियां अपनी गर्दन पर फिराते हुए आसपास देखने लगी।

तभी सामने से काली रेशमी सलवार, सुर्ख कशीदेदार सफेद रेशमी कमीज और सिर पर लहराते झालरदार जाली के दुपट्टे में सजी, 'जरीना' गुजरी। जब हमने उसके चेहरे पर बिखरी मुस्कान का जवाब रुआंसे होकर दिया तो वह कठिनाई समझ गयी। उसने झट झाड़ू फेंक दिया और लान में लगे नल पर हाथ धोने लगी। फिर मेरे हाथ से खाली जग ले लिया और उर्दू विभाग की ओर चली गयी। घण्टे भर गायब रह कर वह कूलर का ठंडा पानी लिये फरिश्ते की तरह मेरे सामने नमूदार हो गयी तो मैंने मारे खुशी के हकलाते हुए कहा।

.. थैंक्यू ..! तो वह मूंगफली की तरह चटख कर बोली,' 'बीबी,...थैंक्यू-वैंक्यू मैं नहीं जानती। बस यह जानती हूं कि हाथों पैरों के रहते किसी का दिल न टूटे। पानी से पतली भी कोई चीज़ है दुनिया में ? ...और वह झाड़ू उठा कर मुस्कराते हुए मुड़ गयी। बर्फीले पानी से भरे जग पर जमी भाप और बूंदों पर उंगुली चला कर मैंने उसका नाम लिखा...'ज़रीना...' और फिर बायें हाथ की ओक मुंह से लगाये पानी पीने लगी।

दूर से मेरे हाथ में जग देख कर विभाग के कुछ और लोग भी मेरी ओर चले आये।

— मैडम ! पानी ? कहां से लायीं पानी आप ?

— मैं नहीं लाई, ईश्वर ने भेज दिया।

—ईश्वर खुद आया था ? उन्होंने ठहाका लगाया।

—हां, जी ईश्वर ही आया था, आप ही देखिये, ऐसे में और कोई है आस-पास ? चिड़िया तक पर नहीं मार रही है।

—फिर भी कहां से आया पानी ? एक ने हाथ धोते हुए पूछा।

—आपको पानी पीने से मतलब है कि पेड़ गिनने से...? वैसे पानी, ज़रीना लायी है।

—ज़रीना...? क्या ?.. और जग को उसी तरह मेज़ पर पटक कर वे लोग पानी बिना पिये ही वापिस लौट गये।

मुझे मानों काठ मार गया था। अपनी आंखों में एक शरमिन्दगी की गीलाहट लिए मैं सोच रही थी कि आज़ादी के पचास वर्ष बाद भी हमारी आंखों में पानी नहीं रहा। हम आज भी—छूत-अछूत पानी की धार को बांट रहे हैं।

आसमान की बुलंदी को ललकारता बाबा साहब अम्बेडकर का ऊपर उठा हुआ हाथ और हरिजनों की बस्ती-बस्ती घूमने वाले। '...वैष्णव जन ते तेणे कहिये जो पीड़ परायी जाणे रे...का राग अलापने वाले राष्ट्रपिता बापू गांधी का सपना आज़ादी के पचास वर्ष बाद भी मानों दुहाई दे रहा है......

रहिमन पानी राखिये बिन पानी सब सून...। □

कविताएं

देश

□ डॉ॰ रतन लाल शांत

देश !
तुम्हें कालिदास ने हिमालय से नापा था
मैं कहां से शुरू करूं ?
शायद हिमालय से ?
पर वह सागर से फूटा ?
जब सुहागन पृथ्वी का तन मन कांपा था !
तो फिर सागर से ?
जिसने तुझे भाई अफ्रीका से अलगाया
या अफ्रीका से ?
जो इतना नया है कि सदियों बुझा रहा
पर मेरे लिए अपनी दक्षिणी नोक पर
मुक्ति का शोला सुलगाया !
मैं तुम्हें कहां से शुरू करूं ?
उन ऋचाओं पर उड़ान भरूं
जो यायावर उजबेको ने छोड़ी थीं
जो गंगा तट पर भीष्म ने
तीरों की तरह ओढ़ी थीं !

या कि जायसी की भाषा से डरूं
अर्थ के फव्वारों का चेहरा छीन लूं
सिर्फ उन धाराओं को बीन लूं
जो मेरी भागीरथी शंखध्वनि के पीछे
'अखरावट' का आखर आखर ढहा दे
शिवावावनी की क्यारी-क्यारी सींचें ?

देश !
खुद को समेटने के लिए
युद्धों पर युद्ध तुमने लड़े
पर अर्जुन और किरात का निर्णय
लालकिले और सिंहगढ़ का फैसला
मुझ पर क्यों छोड़ दिया ?
मैं क्या जुटाऊं हौसला
तुम्हें समझने की धुन में तो
मैंने खुद को खुद से तोड़ दिया ! □

रंग

उस दिन छोटे हाथों से
सतरंगी तितली को पकड़ना चाहा था
तो मुश्किल समझ में आई थी
बिना तैयारी आसमान को चाहा था
और पाया था
कि तितली रंगों में रंग उलझा रही है
हवाओं में हवाएं
अब जो मैं बड़ा हो गया हूं
और बाहें छोटी हो गई हैं
देख रहा हूं
हवा कटी पतंग सी टहनी में अटकी है,
रंग दिशाहीन झण्डों से उड़ रहे हैं
झण्डे खूटियां हैं
खूटियां दलदल में गड़ी हैं।
थकी तितली जाने कब से पड़ी है
खुरदुरे हैं हाथ
तितलियों को कैसे हवा में बहाएं
कि फिर उलझें रंगों में रंग
और हवाओं में हवाएं।

ग़ज़ल

□ डा. रामदरश मिश्र

कुछ बेबसी ऐसी कि हम यों जाल में फंसते रहे
तुम लूटकर रोते रहे, लुटकर भी हम हंसते रहे

थी रोशनी तो साथ थे, जब रात आयी चल दिए
साए हमारे इस तरह बन हमसफर चलते रहे

पल जो कुछ आए गए, कुछ पल चले कुछ दूर तक
कुछ पल बिछड़ कर भी निरंतर, प्राण में धंसते रहे

चुन-चुन के तिनके स्वप्न के रचते हुए चलते रहे
कुछ आशियां गिरते रहे, कुछ आशियां बसते रहे

कांटे रहे चुभते मगर पहचान में आते रहे
कुछ फूल सहचर की तरह मिलते रहे, डसते रहे

आकाश से आता रहा मोहक बुलावा रात-दिन
लेकिन जमीं के दर्द अपने प्यार में कसते रहे

इसने सिखाया तो बहुत पर हम रहे नादान ही
तुम सीढ़ियां चढ़ते गए हम खोजते रस्ते रहे □

ग़ज़ल

□ सुरेन्द्र चतुर्वेदी

गमज़दा तन्हाइयों का सिलसिला बाकी बचा,
अब हमारी जिन्दगी में और क्या बाकी बचा।

सीख कर उड़ना परिन्दे उड़ गए जाने कहां,
शाख पर तिनकों का केवल घोंसला बाकी बचा ।

इस तरह से लोग अपनी मंजिलें बदला किए,
उम्र भर चलते रहे पर रास्ता बाकी बचा।

जिन्दगी भी क्या अजब इक मुकद्‌दमा बन गई,
काट ली सारी सज़ाएं फैसला बाकी बचा।

जिसमें अपनों के पते थे डायरी वो खो गई,
और ना, मिलने का कोई मुद्‌दआ बाकी बचा।

उसकी खुश्बू आज भी आती है मेरे जिस्म से,
सोचता हूं उससे रिश्ता कौन-सा बाकी बचा।

आग बरसाने लगा है अब ज़मीं पर आसमां
या खुदा तेरा ही अब तो आसरा बाकी बचा। □

नवगीत

□ निर्मल विनोद

भोर खोजने निकले हम
कन्धों पर लादे हैं
बोझिल परकटी शाम

जीवन लेखा है
कुछ बासी संदर्भों का
है कारावास बाकी
कुछ गर्भों का
धोखा है चमकीला
दर्शनीय ताम झा म
कंधों पर लादे हैं
बोझिल परकटी शाम

पैरों में चक्कर है
आदमी मुसाफिर है
हार मान कर
निराश जो होता काफिर है
जीते जी
जीवन में क्या कोई ले विराम
कंधों पर लादे हैं
बोझिल परकटी शाम

स्याही घुल जायेगी
सुबहें भी देखेंगे
आशा है चल-चल कर
मंजिल पर पहुंचेंगे
सीता मिल जाती है
धनुष लिये चले राम
कांधों पर लादे हैं।
बोझिल परकटी शाम

भोर खोजने निकले हम

□

आज़ादी की सुबह सी लड़की

□ डा० देवव्रत जोशी

ठुमरी-सी गूंजती है कानों में,
आज़ादी के पचास वर्षों में
किसी एक दिन जन्मी,
यह आदिवासी लड़की
घूमती-दौड़ती है स्वच्छन्द गली-आंगन-दालान में,
एक साथ... महकते फूल, चहकती चिड़िया,
और एक पूरी ज़िन्दगी का धड़कन भरा अहसास लिये ?
इसकी लय भरी चाल में,
लुहार की उठती-गिरती भुजा का स्पन्दन है,
एक अन्तर्नाद है सीने में बजता :
ज़माने की सारी ज़हर भरी विसंगतियों को,
अभिव्यक्त करने की सामर्थ्य से भरपूर।
वर्तमान की राख जब-जब उड़ती है देखता हूं—
कई अजन्मे सूर्यों की दमकती संभावनाएं,
इसके गोल-मटोल, भरे—भोले चेहरे पर,
दीप्त हो उठती हैं।......

कलाइयों में बजता है चूड़ियों का संगीत,
बजते हैं पांवों में अनागत के घुंघरू,
तांडव और लास्य की मुद्राओं वाली यह लड़की
मंच पर उतरने के बाद 'यह' नहीं रह जाती,
तब दृश्य और दर्शक समवेत हो जाते हैं...
मंच पूंजीभूत नृत्य हो जाता है!

एकाग्र तन्मयता में खोई
यह नटखट, शोख लड़की,
आदिवासिन का चोली-घाघरा पहने...
निकलती है हाट-बाज़ार में उन्मुक्त/
अपनी अस्मिता से अनजान 'गंवार' कन्या...सी,
गन्ध-बौराई रूपवती गुलाब की डाल...सी,
कण्व के अन्तर में सुबकती करुण कविता...सी;
वाल्मीकि के तेज दीप्त व्यक्तित्व से अनुप्राणित,
रामायण...सी।

यह असाध्य वीणा, यह नन्हीं कनुप्रिया,
यह अबूझ लड़की।......
रूपायित हैं इसमें सारे जीवन-मूल्यों,
संघर्षों और तरल, तपते प्यार की,
पहचानी उपलब्धि

लोह ध्वनि के बीच से उठती सरगम यह लोहे की नेवज,
नदी की लहरों की मानिन्द,
भिगोती है समूचा वन-प्रान्तर, परिवेश,
आज़ादी की सुबह के पहले आलोक सी,
जीवन के स्रोत सूर्य की ओर अपलक निहारती,
यह लड़की भागेगी,
ज़िन्दगी के जंगल में,
सपनों के हिरण के पीछे,
अपने जीवन का तूणीर कसे।

आज़ाद भारत की यह आदिवासी लड़की,
और पायेगी कि वह वहीं है आज भी
जहां, उगी थी बरसों पहले
कंटीली झाड़ी में
नन्हें से फूल सी

□

पहचानें अस्मिता को

□ डॉ. चंचल डोगरा

इक्कीसवीं सदी की देहरी पर
शृंखला की कड़ियां
तोड़ फेंकने को वचनबद्ध
दृढ़ संकल्प
प्रतिज्ञा रत हम
न ही जानें—
कड़ियां ये
धर्मों की कर्मों की
मान और सम्मान की
विरसे में पायी हैं
गहरे समायी हैं
युगों से
आकर्षण ने इनके भरमाया है
नारीत्व को अभिशप्त बनाया है
आदिम क्षणों से
बहुत चाहा है भोगा है, जिया है
कहा, अनकहा,
सहा, अनसहा दर्द ।

आओ ! निर्भय को जानें

निर्भ्रांत पहचानें

अपनी अस्मिता को—

खोलें—

असंभावनाओं के कई-कई द्वार

वहीं पार रोशनियों के

अजस्र स्रोत

अकुलाते, प्रतीक्षा रत हैं

तुम्हारे अन्तर के स्पर्श को

हे भारत भूमि !

रचनकारों से निवेदन

- शीराज़ा में कला, संस्कृति एवं साहित्य से जुड़ी आप की मौलिक, अप्रकाशित रचनाओं का स्वागत है ।
- हाशिया छोड़ कर स्पष्ट लिखी हुई या टंकित रचना भेजें । कार्बन कापी नहीं । रचना के अन्त में अपना नाम तथा पूरा पता अवश्य दें ।
- समीक्षा के लिए कृति की कृपया दो प्रतियां भेजें ।
- अनूदित रचनाओं के साथ मूल लेखक की अनुमति संलग्न करना अनिवार्य है ।
- रचनाओं की स्वीकृति तथा नियमानुसार पारिश्रमिक यथासम्भव शीघ्र भेज दिया जाता है । इस विषय में किन्हीं अनिवार्य परिस्थितियों के कारण होने वाले विलम्ब के लिए अवांछित पत्र व्यवहार न करें ।
- केवल वहीं रचनाएं लौटायी जा सकेंगी जिनके साथ टिकट लगा लिफाफा संलग्न होगा ।

दोहे

□ डॉ. टेकचन्द शास्त्री

पांच बरस के बाद हो फिर सपना साकार।
जय जनता जय देश की जय वादा व्यापार ।।

○

कुर्सी पर बैठा भला मूर्ख चतुर कहाय।
सच्चा चाकर चतुर भी, पल-पल गाली खाय ।।

○

पचास बरस की चाकरी, कर दी हमने जाग।
रिश्वत धन कर ना लगा, मन्द हमारे भाग ।।

○

निंदक गुण लख पाये न, खीचें बालकी खाल।
कदली बन में ऊंट ज्यों ढूंढे कंटक जाल ।।

○

मोती कौड़ी में बिके, कांच भयो बडभाग।
हंसें हंस की चाल पर बने पारखी काग ।।

○

रसना रस बहता रहे, बोल तोल के बोल।
तुरत काम बिगरे बने, मुंह में मिसरी घोल ।।

○

उल्लू बैठा डाल पर स्वाद, मधुर फल खाय।
भूखा हंस विराजता, मन्द भाग कित जाय॥

○

सुख-दु:ख दोनों में रहे, सुजन सदा खुशहाल।
उगता सूरज लाल है, ढलता सूरज लाल॥

○

गोरस गायब हो गया, चला चाय का दौर।
डिब्बे का है आसरा, न कोई माखन चोर॥

○

शहर मशीनी हो चले, धूल धुआं चहुं ओर।
कालिंदी कलुषित भई, देखो नन्द किशोर॥

किताबें

'पराशर का राक्षस यज्ञ'

लेखक—डॉ० दर्शन त्रिपाठी
प्रकाशक—दीपक पब्लिशर्ज़,
माई हीरां गेट, जालन्धर—144001
प्रथम संस्करण 1993
पृ० संख्या—64
मूल्य—40 रुपये (सजिल्द)

क्षमा-भावना को प्रतिष्टित करना 'पराशर का राक्षस यज्ञ'

समय की सामाजिक, राजनैतिक एवं धार्मिक परिस्थितियों के अनुसार ही पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक एवं राजनैतिक नाटकों की रचना होती है। 'पराशर का राक्षसयज्ञ' डॉ० दर्शन त्रिपाठी द्वारा रचित दूसरा नाटक है जिसे पौराणिक नाटकों की श्रेणी में रखा जा सकता है। प्रथम नाटक 'मुनिद्रेष' (1987 ई०) में भाषा विभाग, पटियाला के सहयोग से प्रकाशित हो चुका है। आलोच्य नाटक उसी कड़ी को आगे बढ़ाता है।

हिन्दी नाटक का आविर्भाव भारतेन्दु काल से माना जाता है। इर आरम्भिक काल में अधिकांश पौराणिक नाटक श्रद्धा एवं भक्ति से प्रेरित होकर लिखे गए। प्रसाद युग में जयशंकर प्रसाद ने अपने नाटकों को पुराण साहित्य में ऐतिहासिक तथ्यों का अन्वेषण कर पुराण-कथा को नया अर्थ देने का प्रयास किया। प्रसादोत्तर काल में पुराण-कथाओं की अपेक्षा ऐतिहासिक अथवा सामाजिक कथावस्तु को स्वीकार करने की प्रवृत्ति बढ़ती गई। पाश्चात्य साहित्य एवं सभ्यता के संपर्क में आने से वैज्ञानिक तथा बुद्धिवादी जीवन दृष्टिकोण को अपनाया गया। स्वाधीनता के पश्चात् पौराणिक नाटकों के दृष्टिकोण में बुद्धिवाद तथा मानवीयता के भावों का प्राधान्य रहा। कुछ सीमा तक पौराणिक नाटकों में धार्मिक अन्धविश्वास तथा परम्परावादिता के विरोध में विशुद्ध वैचारिकता एवं विज्ञाननिष्ठ दृष्टिकोण भी प्रकट हुआ। 'पराशर का राक्षस यज्ञ' नाटक में नाटककार ने कथावस्तु संयोजन एवं पात्रों में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र युग की श्रद्धा एवं भक्ति को अपनाते

हुए भी नवयुग के विशुद्ध वैचारिक एवं विज्ञाननिष्ठ दृष्टिकोण को अपनाया है। क्रोध एवं प्रतिशोध के त्याग पर बल देते हुए क्षमा को महत्वपूर्ण स्वीकार किया है। अपने प्रथम नाटक 'मुनिद्वेष' से उन्होंने इसी विचार धारा का आरम्भ किया था जिसे इस नाटक में परिपक्वता प्राप्त हुई।

नाटककार ने नाटक के प्रारम्भ में 'प्राकथन—दो शब्द' के अन्तर्गत नाटक विषयक दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए कहा है कि 'सामाजिक मूल्यों को दर्शाने के साथ-साथ क्षमा-भावना के शुभ एवं कल्याणकारी रूप को प्रकाशित करना ही इस नाटक का मुख्य उद्देश्य है। नाटककार का मुख्य प्रयोजन क्षमा-भावना के शुभ एवं कल्याणकारी रूप को प्रकाशित करना और क्रोध एवं प्रतिशोध जैसी पाश्विक वृत्तियों को नष्ट करना है। क्रोध एवं प्रतिशोध की भावना मनुष्य को विवेकशून्य बना देती है। आज के सन्दर्भ में भी यही अनुभव किया जाता है। वास्तव में इन अमंगल भावनाओं का शमन और क्षमा-भावना को धारण करना कल्याणकारी एवं शुभ है। इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु पौराणिक कथावस्तु संयोजन एवं पात्रों का चित्रांकन किया है। अनेक पौराणिक संदर्भों को भी संजोया है। कामधेनु गाय के कारण वसिष्ठ एवं राजा विश्वामित्र का परस्पर वैमनस्य उस समय चरम सीमा पर पहुंच जाता है जब आत्मरक्षा करते हुए ब्रह्मर्षि वसिष्ठ द्वारा विश्वामित्र के सौ पुत्रों का नाश हो जाता है। यद्यपि इसमें समस्त दोष विश्वामित्र के अभिमानी एवं दुराचारी पुत्रों का था परन्तु विश्वामित्र यह सहन नहीं कर पाते और बार-बार प्रतिशोध लेने का प्रयत्न करते हैं। हर बार वह मुनि बसिष्ठ से पराजित हो जाते हैं लेकिन अवसर मिलने पर वे शक्ति सहित बसिष्ठ के सौ पुत्रों को किंकर राक्षस द्वारा कल्माषपाद समाप्त करवा देते हैं। ऋषि वसिष्ठ फिर भी उन्हें क्षमा कर देते हैं। मुनि वसिष्ठ तो क्षमा की प्रति मूर्ति थे। उनका सिद्धान्त था कि अपने किए हुए कर्म का फल ही भोगना पड़ता है। कोई किसी को मारता नहीं। कथावस्तु के संयोजन हेतु नाटककार ने इसे तीन अंकों में विभाजित किया है।

प्रथम अंक में विश्वामित्र को ऋषि वसिष्ठ से प्रतिशोध लेने का अवसर प्राप्त हो जाता है। नाटक के प्रारम्भ में ही राजा कलमाषपाद एवं वसिष्ठ पुत्र शक्ति का आपस में विरोध दृष्टिगोचर होता है। राजा कलमाषपाद राक्षस वृत्ति को धारण कर शक्ति को कोड़ों से पीटते हैं इसलिए ऋषि शक्ति राजा कलमाषपाद को श्राप देते है कि वह इस अपराध के लिए राक्षस बन जाए। जब कलमाषपाद को अपनी गलती का अहसास होता है तो वह ऋषि भक्ति से क्षमा-याचना करते हैं। राजा कलमाषपाद की विनय पर शक्ति श्राप को सीमित कर देते हैं और कहते हैं कि दिन के केवल छठे पहर में ही उस पर राक्षसवृत्ति का प्रभाव होगा और उसकी तृप्ति केवल नर मांस से ही हुआ करेगी। ऋषि विश्वामित्र वृक्ष की ओट से इस श्राप को सुन लेते हैं। वह इस श्राप के माध्यम से अपने हेतु की सिद्धि करना चाहते हैं। वह अपने तपोबल से राजाकलमाषपाद के शरीर पर किंकर राक्षस का अधिकार करवा देते हैं और किंकर राक्षस को निर्देश देते हैं कि जब छठे पहर में राजा राक्षस वृत्ति को अपनाया करे तो उसे वसिष्ठ पुत्रों को अपना ग्रास बनाने के लिए प्रेरित किया करना। विश्वामित्र अपनी योजना में सफल हो जाते हैं। शक्ति सहित बसिष्ठ के सौ पुत्रों को राक्षस किंकर कलमाषपाद द्वारा अपना ग्रास बना लेता है। कलमाषपाद द्वारा वन में

मृत्यु का ताण्डव नृत्य आरम्भ हो जाता है। ऋषि मुनि उसके भय से वन का त्याग कर देते हैं। इस ताण्डव नृत्य से अनभिज्ञ एक ब्राह्मणी अंगिरसी और उसका पति विहार हेतु वन में वृक्ष की शीतल छाया में आनन्द विभोर प्रेमालाप में मग्न होते हैं कि उसी समय राजा कल्माषपाद राक्षस रूप में प्रविष्ट होते हैं और अंगिरसी के पति को दबोच कर एक ओर ले जाते हैं। ब्राह्मणी पति की विरह में शोकातुर हो उठती है और कल्माषपाद को श्राप देती है कि जिस प्रकार उसने उन्हें एक दूसरे से अलग किया है उसी प्रकार वह भी कभी अपनी पत्नी का संग प्राप्त न कर सकेगा। ब्राह्मणी अपने पति के साथ सती हो जाती है। उधर वसिष्ठ अपने पुत्रों के मृत्यु ग्रास बन जाने के कारण बहुत दु:खी है। वह शोकातुर निरउद्देश्य बन में घूम रहे हैं। उनकी पुत्रवधु (शक्ति की पत्नी) अदृश्यपत्नी उनके पीछे उनको आश्रम में वापिस लेने आती है कि कल्माषपाद को एक ओर से आते देख कर भयभीत हो जाती है। बसिष्ठ अपने कमण्डल के अभिमन्त्रित जल से कल्माषपाद को शक्ति श्राप से मुक्त कर देते हैं। कल्माषपाद की चेतना लौट आती है। वह अपने क्रूर कृत्यों के लिए क्षमा याचना करते हैं। वह वसिष्ठ से प्रार्थना करते हैं कि वह नियोग प्रथा अनुसार उसकी पत्नी से एक पुत्र उत्पन्न करें। ऋषि वसिष्ठ राजा की प्रार्थना को स्वीकार कर उसके साथ अयोध्या को चले जाते हैं। अदृश्यपत्नी अपने आश्रम को चली जाती है। वह अपने पति शक्ति की मृत्यु के समय गर्भवती होती है। इसी आशा को लेकर वह जीवित है। यहां पहला अंक समाप्त हो जाता है।

दूसरे अंक में नाटककार ने शक्ति पुत्र पराशर और राजा कल्माषपाद पुत्र अश्मक को आश्रम में एक साथ पढ़ते दिखाया है। पराशर को यह नहीं बताया गया कि उसका पिता राक्षस का ग्रास बन चुका है। वह ऋषि वसिष्ठ को ही अपना पिता समझते हैं परन्तु जब अदृश्यन्ती अपने पुत्र पराशर को यह बतलाती है कि वसिष्ठ उसके पिता नहीं पितामह हैं और उसके पिता की मृत्यु हो चुकी है तो वह आहत हो जाता है। वह इस बात से हैरान है कि एक ऋषि पुत्र राक्षस का ग्रास बन गया और सभी ने यह अनर्थ सहन कर लिया। वह संसार का सर्वनाश करने को तत्पर हो जाता है परन्तु वसिष्ठ के समझाने पर संसार नाश का विचार तो त्याग देता है लेकिन अपने पिता की मृत्यु के हेतु राक्षस को मार कर राक्षस जाति का विनाश करने के लिए राक्षस यज्ञ का संकल्प ले लेता है।

तृतीय अंक में राक्षस यज्ञ का आयोजन होता है। पराशर के आकर्षण मंत्र से राक्षस असहाय होकर अग्निकुण्ड में गिर कर भस्म होने लगते हैं। राक्षस चीत्कार सब ओर सुनाई पड़ता है। आकाश में देवगण, गन्धर्व, यक्ष; किन्नर, अप्सराएं सभी इस यज्ञ को देख रहे हैं। दमयन्ती और वसिष्ठ इस यज्ञ से दुखी हैं परन्तु कुछ कर नहीं पा रहे। उसी समय अत्रि, पुलस्त्य, पुलह एवं शुक्राचार्य राक्षस यज्ञ की समाप्ति हेतु आश्रम में पधारते हैं। वे सभी पराशर को नीतिपरक कथाएं सुना कर इस यज्ञ को समाप्त करने का आग्रह करते हैं। मुनि कपिल भी आश्रम में पधार कर पराशर को क्रोध को शांत कर, प्रतिशोध की अमँगलकारी भावना को त्याग कर क्षमा को धारण कर यज्ञ की समाप्ति हेतु कहते हैं। ऋषियों के तर्कसंगत उदाहरण सुन कर पराशर 'राक्षस यज्ञ' की समाप्ति हेतु सहमत हो जाते हैं। इसी के साथ नाटक इति को प्राप्त होता है।

नाटक में गौण पात्रों को छोड़ कर मुख्य रूप से ब्रह्मर्षि बसिष्ठ, राजा कल्माषपाद,

मदयन्ती और पराशर मुख्य पात्र माने जा सकते हैं। इन पात्रों का ही मुख्य रूप से चित्रांकन किया गया है और यही नाटककार के उद्देश्य की पूर्ति एवं नाटक की कथावस्तु संयोजन में सहायक सिद्ध होते हैं। ऋषि बसिष्ठ सत्य, क्षमा, धैर्य और तप की सजीव मूर्ति हैं। विश्वामित्र वसिष्ठ की कामधेनु गाय बलपूर्वक हथियाना चाहते हैं। इस द्वेष में विश्वामित्र के सौ पुत्र वसिष्ठ की क्रोधाग्नि में भस्म हो जाते हैं। विश्वामित्र भी प्रतिशोध की आग में जलने लगते हैं और वसिष्ठ के सौ पुत्रों का विनाश करवाते हैं। वसिष्ठ फिर भी विश्वामित्र को क्षमा कर देते हैं।

कल्माषपाद राजा सौदास के पुत्र अयोध्या के सूर्यवंशी राजा हैं। बड़े धर्मपूर्वक राज्य का संचालन करने वाले हैं परन्तु तनिक से अभिमान के कारण वसिष्ठ पुत्र शक्ति के द्वारा श्राप ग्रस्त हो जाते हैं। दिन के छठे पहर में वह अपनी चेतना खोकर राक्षस वृत्ति को धारण कर शक्ति बसिष्ठ के सौ पुत्रों का विनाश कर देते हैं। इसी दशा में वह एक ब्राह्मणी के पति का वध भी करते हैं। ब्राह्मणी राजा कल्माषपाद को श्राप दे देती है कि वह पुत्र प्राप्त न कर सकेंगे। ब्राह्मणी से क्षमायाचना करने पर ब्राह्मणी को उस पर दया आ जाती है और वह कहती है कि वह नियोग प्रथा अनुसार अपनी पत्नी से बसिष्ठ द्वारा पुत्र प्राप्त करेंगे। बसिष्ठ द्वारा शक्ति-श्राप से मुक्त हो जाने पर वह वसिष्ठ को अयोध्या ले जाते हैं। नियोग-प्रथा द्वारा उन्हें अश्मक नाम का पुत्र प्राप्त होता है।

दमयन्ती कल्माषपाद की पत्नी एक सशक्त पात्र है। ब्रह्मर्षि वसिष्ठ द्वारा उनको पुत्र की प्राप्ति होती है। वह पुरातन मान्यताओं के प्रति विद्रोह की आवाज़ उठाना चाहती है और पुरुष प्रधान समाज की बुराइयों की ओर इंगित करती है। स्त्री की असहाय अवस्था के लिए पुरुष को दोषी मानती है। पौराणिक-युग की होते हुए भी वह आधुनिक काल की नारी का प्रतिनिधित्व करती दिखाई देती है। वह लड़का लड़की एक समान' जैसी आधुनिक विचारधारा के अनुसार पुत्री को पुत्र जैसा सम्मान देने के पक्ष में है। तत्कालीन समय में नियोग प्रथा पर भी प्रहार करती है। वह इसे एक अधार्मिक कृत्य मान कर पुरुष वर्ग को प्रताड़ित करती हुई कहती है—'क्या नियोग की आड़ में अपनी स्त्री को अन्य पुरुष को समर्पित करना अधर्म नहीं ? (पृ० 33) इसी प्रथा पर चोट करती हुई एक स्थान प पुनः कहती है—'हां, स्त्री की इच्छा अनिच्छा का क्या प्रयोजन ? और फिर पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म उचित अनुचित की परिभाषा भी तो आप पुरुषों द्वारा स्थापित की गई है' (पृ० 32) स्त्री शोषण पर वह कहती है—'जहां पुरुष अपने आपको असमर्थ पाता है, वहां स्त्री का शोषण किया जाता है। परन्तु स्त्री को मिलता क्या है ? अपना देह समर्पण, ग्लानि एवं तिरस्कार ?' (पृ० 32) वह ऋषि वसिष्ठ से समाज में परिवर्तन लाकर स्त्री मर्यादा को स्थापित करने का आग्रह करती है। उसका विचार है कि समाज में सन्तुलन बनाए रखने के लिए स्त्री दशा को सुधारना अनिवार्य है। वह पराशर द्वारा राक्षस यज्ञ के आयोजन पर भी बहुत दु.खी है। उसकी हार्दिक इच्छा है कि यह यज्ञ शीघ्र ही समाप्त हो जाए दमयन्ती नारी हृदय का सच्चा स्वरूप प्रकट करती है।

पराशर महात्मा शक्ति के पुत्र और ब्रह्मर्षि बसिष्ठ के पौत्र हैं। जब उसे पता चलता है कि उसके पिता की मृत्यु राक्षस द्वारा हुई हुई थी तो वह प्रतिशोध लेने के लिए कटिबद्ध

हो जाता है। ओजस्वी, वीर और स्वाभिमानी है। उसे इस बात का रोष है कि एक ब्रह्मर्षि के पुत्र को एक राक्षस ने अपना ग्रास बना लिया और सबने निष्क्रिय रह कर सहन कर लिया। वह विश्व नाश के लिए तैयार हो जाता है। वह समर्थ होते हुए भी प्रतिशोध न लेने को कायरता समझता है। (पृ० 37) वह किसी कारण वश उत्पन्न हुए क्रोध का दमन करना अच्छा नहीं समझता। वह उचित क्रोध को भले पुरुषों की रक्षा करने वाला और दुष्टों का दमन करने वाला मानता है। (पृ० 37) वह अपने पिता की मृत्यु का प्रतिशोध लेने के लिए राक्षस यज्ञ का आयोजन करता है और राक्षस नाश में प्रवृत्त हो जाता है लेकिन वसिष्ठ के समझाने पर क्षमा प्रवृत्ति धारणा कर राक्षसों को क्षमा कर देता है।

पौराणिक नाटकों को रंगमंच पर लाना कठिन कार्य होता है परन्तु अब यह धारणा अतीत की बात बन कर रह गई है। अब तो रंगमंच इतना विकसित और समर्थ हो गया है कि किसी भी नाटक का मंचन बड़ी सरलता से किया जा सकता है। 'पराशर का राक्षस यज्ञ' नाटक भी तीन अंकों में विभाजित है। ऐसा कोई पात्र एवं घटना ऐसी दिखाई नहीं देती जिसका मंचन करना कठिन हो। नाटककार ने प्रत्येक अंक में आवश्यक रंगमंचीय दिशा निर्देश दिए हैं। इस प्रकार नाटक को बड़ी सुगमता से रंगमंच पर मंचित किया जा सकता है।

निष्कर्षत: लेखक जिस उद्देश्य को लेकर चला है। उसमें उसे सफलता प्राप्त हुई है। उसका मुख्य उद्देश्य क्रोध और प्रतिशोध के स्थान पर क्षमा को प्रतिष्ठित करना है। क्रोध और प्रतिशोध को त्याग कर क्षमा करना महानता का प्रतीक है। क्षमा रूपी आभूषण मनुष्य को सुन्दरता प्रदान करता है। सामर्थ्यवान का अपने शत्रु को क्षमा करना सबसे उत्तम गुण है। क्षमादान देकर मनुष्य महान ही नहीं हो जाता बल्कि दूसरों के आदर सम्मान का पात्र भी बन जाता है। हिंसा, वैर, विरोध मनुष्य का कर्म नहीं। मनुष्य का कर्म तो अहिंसा, प्रेम एवं क्षमा है। जब पराशर को इस सत्य का ज्ञान हो जाता है तो वह राक्षस यज्ञ को समाप्त करने के लिए सहमत हो जाता है। क्रोध एवं प्रतिशोध की भावना क्षमा भावना से पराजित हो जाती है। नाटककार जिस उद्देश्य को लेकर चला था वह पूर्णरूपेण उस उद्देश्य को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार 'पराशर का राक्षस यज्ञ' नाटक पूर्णता सफल नाटक कहा जा सकता है। □

"मेरी बात तेरी बात" (लघुकथा संग्रह)

लेखक — मधुदीप

प्रकाशक — दिशा प्रकाशन

पृष्ठ 100, मूल्य रु० 50.00

दाहक स्थितियों का सार्थक बयान

लघुकथा एक विधा के रूपमें स्थापित हो चुकी है। कमलेश्वर ने "सारिका" के माध्यम से लघुकथाओं को एक अलग पहचान दी और कई विशेषांकों में इनकी विविधता समेट कर इन्हें प्रस्तुत किया। पिछले दिनों बलराम ने लघुकथाओं पर भरपूर काम किया। "भारतीय लघुकथा-कोश" और "विश्व लघुकथा कोश" का संपादन कर हिन्दीतर भाषाओं में लघुकथा की उपलब्धियों को रेखांकित करने का महत् कार्य किया है। कई लघु पत्रिकाओं ने भी लघुकथाओं को खूब स्थान दिया है। इन व्यंग्य-कथाओं की मारकता और तीव्रता ने पाठकों को बांधे रखा है।

हिन्दी के सुपरिचित कथाकार मधुदीप की लघु व्यंग्य कथाओं का नवीनतम संग्रह "मेरी बात तेरी बात" लघुकथा-जगत की एक उल्लेखनीय पुस्तक है। इस पुस्तक की भूमिका से "रूबरू" होते हुए मधुदीप का कहना है कि आपात्काल के समय 1976 में लघुकथाओं ने एक विशिष्ट रूप धारण किया। अपने इस आलेख में लेखक ने अपने सम-कालीन रचनाकारों के लेखन और कथ्य-शिल्प को विस्तार से बयान किया है। इस बयान से लघुकथा की जन्मकथा पर एक सार्थक रोशनी डालने का काम भी लेखक द्वारा किया गया है। मधुदीप का मानना है कि लघुकथा में बाण की तरह पैनापन आवश्यक है और लघुकथा विधा को सामाजिक अन्याय के विरुद्ध लड़ाई में हथियार के रूप में प्रयोग किया जा सकता है।

"मेरी बात तेरी बात" में संकलित लघुकथाएं सामाजिक विसंगतियों से उपजी कहानियां हैं। विपन्नता, असमानता, शोषण, भ्रष्टाचार और विवशता से रूबरू इन व्यंग्यात्मक लघुकथाओं में बयान की तीव्रता और तीखापन बखूबी पिरोया गया है। "हिस्से का दूध" लघुकथा परिवार के पारस्परिक स्नेह और स्थितिजन्य विवशता का मार्मिक बयान है। "ऐसे" में लेखक ने जीवन के प्रति मनुष्य के सहज आकर्षण को संघर्ष करने में ढाल दिया है। "भय" पुलिस-व्यवस्था पर करारा व्यंग्य है कि किस तरह यह व्यवस्था हत्या को एक्सीडेंट में बदल देती है। ट्रक सड़कों को रौंदते हुए किस प्रकार अपने हाथ में व्यवस्था की लगाम थामे रहते हैं।

शिक्षा जगत समाज के लिए एक प्रश्नार्थक घटनाचक्रों का लंबा सिलसिला बनता जा रहा है। "ट्यूशन" में उसकी एक कड़ी बहुत सशक्त रूप में उभरी है। इसी प्रकार "जेल नेता" और "सफेद चोर" व्यवस्था के विसंगत सिलसिले के जीवंत उदाहरण बन पड़े हैं। "इज्जत के लिए" दहेजदानव की भ्रष्ट सामाजिक मानसिकता को स्पष्ट करती है।

इस संग्रह की दूसरी विशेषता यह है कि इसमें लघुकथा से संबधित कई विश्लेषणात्मक लेख हैं। हिन्दी की पहली कहानी "एक टोकरी भर मिट्टी" (लेखक--माधवराव सप्रे) तथा प्रेमचन्द की कहानी "राष्ट्र का सेवक" को प्रस्तुत कर डॉ० कमलकिशोर गोयनका का आलेख "लघुकथा : कुछ विचारणीय प्रश्न" शामिल किया गया है। साथ ही, डॉ० सतीश दुबे का "मधुदीप का रचना संसार" और भगीरथ द्वारा लिखित "अभावों के टीसते घाव यानी मधुदीप का रचना संसार" मधुदीप की रचना-प्रक्रिया और उनकी लघुकथाओं पर विस्तार से प्रकाश डालते हैं।

मधुदीप की लघुकथाओं में जहां सामाजिक, राजनैतिक विसंगतियों का ऊहापोह है, वहीं रचनाओं की पठनीयता, विषय और रोचक शैली पाठक को उद्देश्य तक साथ ले जाने में सफल हैं। □

इस अंक के लेखक :–

1. डॉ० कीर्ति केसर
   1086/E गोबिन्दगढ़
   जालन्धर-144001 ।

2. डॉ सुषमा सरल
   H/No. 317, निकट शिव दुर्गा मंदिर ।
   कृष्णा नगर, जम्मू-180001 ।

3. नीलम महाजन
   C/o श्री हंसराज शर्मा
   निकट म्यूनिसिपल क्वार्टर्स
   कृष्णा नगर, जम्मू ।

4. गायत्री जोशी
   राजस्व कालोनी
   रतलाम (म० प्र०)

5. संजय गुप्ता
   द्वारा श्री सुखदेव राज शर्मा
   164, रेशम कालोनी
   जम्मू-180001 ।

6. डॉ० एस० इन्दिरा
   कस्तूरबा गांधी, वनिता कालेज
   वेस्ट मारडपल्ली सिकंदराबाद (आंध्र) ।

7. आशा रानी व्होरा
   Z-135 सेक्टर-12
   नोएडा-201301 ।

8. डॉ० पुष्पपाल सिंह
63-केसर बाग
पटियाला-147001।

9. डॉ० सोमदत्त दीक्षित
कृष्णायन ए-133 सेक्टर-27
नोएडा (U. P.)-201301।

10. डॉ शीलम वेंकटेश्वर राव
H/No. 465/3 रेलवे क्वार्टर्स
चिलकल गुडा पद्माराव नगर
सिकदराबाद-25 (A. P.)।

11. श्री विष्णु प्रभाकर
818 कुंडे वालान चौक
अजमेरी गेट, दिल्ली-110006।

12. प्रेमी रोमानी
तपस्या
1/3 नसीब नगर जानीपुर,
जम्मू।

13. प्रो० पृथ्वी नाथ मधुप
202/11 गली नं० 5,
नानक नगर, जम्मू।

14. डॉ० बदरी नाथ कल्ला
63/6 त्रिकुटा नगर,
जम्मू।

15. डॉ० देवराज बाली
राजपुरा, जम्मू।

16. डॉ० निर्मल कमल
अर्थशास्त्र विभाग
न्यू कैम्पस, जम्मू यूनिवर्सिटी,
जम्मू।

17. हरबंस सिंह रैना
146/3 बसंत विहार
त्रिकुटा नगर
जम्मू।

18. डॉ० आशा गुप्ता
A-20 न्यू कैंम्पस
जम्मू यूनिवर्सिटी जम्मू ।

19. सरोज कुमार शुक्ल
केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय
वेस्ट ब्लॉक-7
रामाकृष्णा पुरम
नई दिल्ली ।

20. अर्जन देव मजबूर
H/NO. 207, वार्ड नं० 12
उधमपुर, J & K.

21. जसवंत सिंह रीण
C/O अरविंदर अमन
कल्चरल अकादमी
जम्मू ।

22. रत्न कलसी
रेडियो कश्मीर पुंछ

23. मनोज शर्मा
नबार्ड, शास्त्री नगर
जम्मू ।

24. दीदार सिंह
35-कर्ण नगर
जम्मू ।

25. नरेश गुलाटी
155/5 त्रिकुटा नगर
जम्मू ।

26. डॉ० अशोक जेरथ
केन्द्र निदेशक
रेडियो कश्मीर
जम्मू ।

27. करतार सिंह दुग्गल
38-हौज खास
नई दिल्ली ।

28. अमित गुप्ता
A-20, न्यू कैंपस
जम्मू यूनिवर्सिटी, जम्मू।

29. विनोद शाही
813/7 हाऊसिंग कालोनी
G.T.B. नगर
जालन्धर शहर-144 003।

30. कमलेश भारतीय
उपसंपादक
दैनिक ट्रिब्यून सैक्टर 29
चंडीगढ़ (पंजाब)।

31. जिंदर
C/O डॉ० तरसेम गुजराल
46, हरबंस नगर
जालन्धर-2।

32. तरसेम गुजराल
46, हरबंस नगर
जालन्धर-2।

33. बिनायक
C/O कमल गुप्त
K. 30/37, अरविंद कुटीर
निकट भैरवनाथ
वाराणसी।

34. राजी सेठ
3 फेलो,
इंडियन इंस्टीच्यूट ऑफ एडवांसड स्टडी
राष्ट्रपति निवास
शिमला-171 005।

35. परमिंदर कौर
राजनीति शास्त्र विभाग
जम्मू, विश्वविद्यालय
जम्मू।

36. डॉ॰ रतन लाल शांत
904, सुभाष नगर
मुख्य पोस्ट आफिस के सामने
जम्मू ।

37. डॉ॰ रामदरश मिश्र
14, वाणी विहार
दिल्ली ।

38. सुरेन्द्र चतुर्वेदी
कुन्दन नगर
अजमेर (रजि॰)

39. निर्मल विनोद
सुशील निवास
हरिसिंह नगर
कोटली बस्ती, जम्मू ।

40. डॉ॰ देवव्रत जोशी
24, वेद व्यास कालोनी
रतलाम (M.P.)

4 . डॉ॰ चंचल डोगरा
मोहल्ला नारायणियां
जम्मू ।

42. डॉ॰ टेक चंद शास्त्री
F/ 03, निटकोलेन, तालाब तिल्लो
जम्मू ।

43. लेखराज
निकट खादी भंडार
सुजानपुर ।
जिला गुरदासपुर (पंजाब) ।

Regd. No. 28871/76

SHEERAZA HINDI

June-November 1997

Vol. : 33 No. : 2-4

Published by the Secretary on behalf of J & K Academy of Art, Culture & Languages, JAMMU & Printed at ROHINI PRINTERS, Kot Kishan Chand, JALANDHAR CITY (Pb.)